श्रीमत्सकलकीर्ति-गणि-विरचित

समाधि-मरणोत्साह-दीपक

हिन्दी अनुवाद-सहित तथा उपयोगी प्राक्कथन-
प्रस्तावना-परिशिष्टादिसे युक्त

अनुवादक
पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री

—:०:—

प्राक्कथन-लेखक
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

—:०:—

सम्पादक और प्रस्तावना लेखक
दरबारीलाल जैन, कोठिया, एम ए., न्यायाचार्य
प्राध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

•

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक—
दरबारीलाल जैन, कोठिया,
मंत्री, 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण : ग्यारहसौ प्रतियाँ
मुद्रण—मास भाद्रपद वी० नि० सं० २४९०
प्रकाशन—माह सितम्बर १९६४
पृष्ठसंख्या कुल १५२

मूल्य मात्र : दो रुपया

मुद्रक
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी।

विषयानुक्रम

—:o—

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चई तिव्व-भत्ति-राएण ।
मोत्तूण य देवसुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ।।

'जो साधु व श्रावक अत्यन्त भक्तिके साथ सल्लेखना-धारकके चरणोंमें जाता है वह देवगतिके सुखोंको भोगकर उत्तम स्थान–निर्वाणको प्राप्त होता है।'

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमत्तूण ।।

'जो जीव एक भवमें समाधिमरण करके मरणको प्राप्त होता है वह जीव सात-आठ भवसे अधिक संसारमें परिभ्रमण नहीं करता है।'

धर्मनिष्ठ श्रीसौभाग्यमलजी, गंगवाल,
वाराणसी।
[धर्मपत्नी तथा धेवतोंके साथ]

आप लश्कर (म० प्र०) के सफल व्यवसायी और लब्धप्रतिष्ठ परिवारसे सम्बन्धित है। आपके स्व० पिता श्री किशनलालजी गंगवालने श्रीसोनागिरि क्षेत्रपर श्रीजैनमन्दिर तथा धर्मशालाका निर्माण कराया था। आप भी सदैव धर्म-कार्योंमे उत्साहपूर्वक भाग लेते तथा उदारतापूर्वक दान देते रहते हैं। आपने अपने पूज्य काका श्रीकन्हैयालालजीके सरक्षणमे पर्याप्त व्यावसायिक प्रगति की है। इधर वर्षोंसे आप वाराणसीमे ही ताँबे-पीतलके तारका व्यवसाय कर रहे है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती नगीना देवी भी धर्म-कार्योंमे सदा प्रवृत्त रहती है। वाराणसीके दि० जैन पंचायती मन्दिरमे आपने एक वेदिकाका निर्माण कराया है।

प्रस्तुत पुस्तककी ५०० प्रतियोंकेलिए आपने वीरसेवामन्दिरट्रस्टको १०००) की सहायता प्रदान की है। हम ट्रस्टकी ओरसे आपका हार्दिक धन्यवाद करते हुए यशस्वी एव दीर्घ जीवनकी शुभ-कामना करते है।
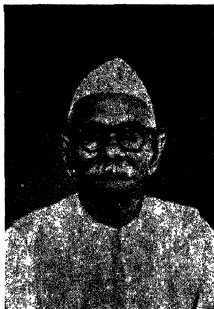
धर्म-प्रेमी बा० सीतारामजी जैन
वाराणसी

आप स्वभावतः सरल, जिनवाणी-भक्त और धर्मानुरागी है। भेलूपुर (वाराणसी) के श्रीजिनमन्दिरजीमें आप प्रतिदिन पूजन-भक्ति करते तथा धार्मिक कार्योंमे सोत्साह भाग लेते हैं। आपने इस पुस्तककी २५० प्रतियोकेलिए ट्रस्टको ५००) की सहायता दी है तथा अपने स्व० पिता श्रीप्रभुदयालजी जैन और भाई गणेशप्रसादजी जैन प्रतापगढ़ (अवध) की स्मृतिमें वितरित की हैं। इसके लिए संस्था उनकी बहुत आभारी है।

प्रकाशकीय

युगवीर-निबन्धावली (प्रथम खण्ड) और तत्त्वानुशासन (ध्यान-शास्त्र) नामक दो महान् ग्रन्थोंको गत वर्ष प्रकाशित करनेके अनन्तर आज हमें एक ऐसे नये ग्रन्थको पाठकोंके हाथोंमें देते हुए प्रसन्नता होती है जो अबतक अनुपलब्ध था; जिसका नाम तक भी सुननेमें नहीं आता था, और न किसी शास्त्र-भण्डारकी सूचीमें देखनेको ही मिलता था; जिसे कुछ अर्सा हुआ, वीरसेवामन्दिरके संस्थापक श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने, सवा महीना अजमेर ठहर कर वहाँके बड़ा धड़ा पंचायती जैनमन्दिर स्थित भट्टारकीय शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, एक प्राचीन जीर्ण-शीर्ण गुटकेपरसे खोज निकाला है और जिसका प्रथम संक्षिप्त परिचय उन्होंने अनेकान्त वर्ष १४ की संयुक्त किरण ३–४ में 'पुराने साहित्यकी खोज' शीर्षकके नीचे अपने पाठकोंको दिया है। उसी समयसे जो पाठक इस अनुपलब्ध ग्रन्थके दर्शनोंके इच्छुक थे उनके हाथोंमें अब यह जा रहा है। अतः उनके लिये भी एक प्रसन्नताका विषय है। इस ग्रन्थका नाम है—'समाधि-मरणोत्साह-दीपक'। जिस समाधिपूर्वक मरणकी हम अपने नित्यके पूजा-पाठादिके अवसरोंपर बराबर भावना भाते हैं उसी विषयमें उत्साहकी वृद्धि तथा विधि-व्यवस्थाके लक्ष्यको लिये हुए यह ग्रन्थ है, जो कि एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय है और जिसकी महत्ता, उपयोगिता एवं आवश्यकताको मुख्तारश्रीने अपने 'प्राक्कथन' में और मैंने अपनी 'प्रस्तावना'में व्यक्त किया है।

मुख्तारश्रीने अपने ८१ वें जन्म-दिवसके अवसरपर इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके लिये पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीकी योजना की थी, जो उस समय वीरसेवामन्दिरमें साहित्य-सेवाका कार्य कर रहे थे। शास्त्रीजीने जो अनुवाद प्रस्तुत करके मुख्तारसाहबको दिया वह

प्रायः शब्दानुवादके रूपमें है, उसीको इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित किया जा रहा है, जिसके लिये संस्था शास्त्रीजी और मुख्तारजी दोनोंकी कृतज्ञ है।

मुख्तारसाहबकी रुचि उत्तरोत्तर अध्यात्मकी ओर बढ़ रही है, वे ग्रन्थ-प्रकाशनकी जिम्मेदारीको अब अपने ऊपर रखना नहीं चाहते। अतः उनके इस भारको मैंने खुशीसे अपने ऊपर ले लिया है। अब संस्था—वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट—के सब ग्रन्थ प्रायः वाराणसीसे मुद्रित तथा प्रकाशित हुआ करेंगे। इस ग्रन्थके परिशिष्टोंमें 'मृत्यु-महोत्सव' आदि कई संस्कृत तथा हिन्दी उपयोगी पाठोंकी योजना की गई है, जिसमें परलोक-यात्रीके हृदयमें उत्साहकी वृद्धि हो, वीरता जगे और उसके सारे दुःख, कष्ट तथा भय भागें।

वाराणसीमें ट्रस्टके ग्रन्थ-प्रकाशन-कार्यमें मुझे श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी और पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रियोंका तथा सुहृद्वर प्रो० अमृतलालजी जैनदर्शन-साहित्याचार्यका बराबर परामर्शादिका सहयोग मिल रहा है, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीने ग्रन्थकार सकलकीर्तिका जो परिचय सकलकीर्ति-रास, ऐतिहासिक-पत्र और पट्टावली आदिके आधारपर लिखकर भेजनेकी कृपा की है उसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

नया संसार प्रेसके स्वामी श्रीशिवनारायण उपाध्यायजीने इस ग्रन्थका तत्परताके साथ सुन्दर मुद्रण किया, एतदर्थ उन्हें तथा प्रेसके सब कर्मचारियोंको भी धन्यवाद है।

आशा है, युगवीर-निबन्धावलीके द्वितीय खण्डको तथा देवागम (आप्तमीमांसा) के मुख्तारश्रीकृत स्पष्टार्थादियुक्त हिन्दी अनुवादको भी हम शीघ्र ही पाठकोंके हाथोंमें देनेके लिये समर्थ हो सकेंगे।

८१, नई कॉलोनी, दुर्गा कुण्ड, वाराणसी, ११ सितम्बर १९६४ — **दरबारीलाल कोठिया,** मंत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

सम्पादकीय

प्रस्तुत कृति और उसके कर्ता

समाधिमरणोत्साहदीपक :

प्रस्तुत कृतिका नाम 'समाधिमरणोत्साहदीपक' है। इसका वर्ण्य विषय यद्यपि नामसे ही प्रकट हो जाता है तथापि उसे यहाँ कुछ स्पष्ट किया जाता है। इसमें समाधिपूर्वक मरणका स्वरूप, उसकी आवश्यकता, उसका महत्त्व, प्रयोजन तथा फल और उसके भेदोंका कथन करते हुए समाधिमरण लेनेवाले साधकके कर्त्तव्यादिका सुन्दर निरूपण किया गया है।

जैनधर्म मूलतः निवृत्ति-प्रधान धर्म है और उसका लक्ष्य जीवोंको आत्म-कल्याणकी ओर ले जाना तथा संसार-देह-भोगोंकी असारता दिखलाकर उन्हें उनसे विरक्त करना है। संसारमें प्रायः समस्त प्राणी विषय-कषायोंकी अग्निमें झुलसते, रोते-विलखते तथा दुःख उठाते हुए प्राण त्याग करते हैं। पर समभाव, शान्ति और विवेकपूर्वक उनका मरण नहीं होता। कोई-कोई तो शस्त्र-प्रयोगसे, विष-भक्षणसे, रक्तक्षयसे धातु-क्षयसे, गिरि-पातसे, अग्नि-प्रवेशसे, जल-प्रवेशसे, गलेमें फांसी लगा कर, कपड़ोंपर मिट्टीका तेल छिड़ककर—आग लगाकर तथा रेल आदिके नीचे आकर अपने प्राण खो देते हैं और इस तरह क्रोधादि तीव्र कषायोंके वश होकर आत्म-घातद्वारा वे जहाँ अपना इहभव नष्ट कर लेते हैं वहाँ संक्लेशपूर्वक मरणके कारण परभव भी बिगाड़ लेते हैं। इस अज्ञानतापूर्ण एवं दयनीय स्थितिको न आने देनेके लिए ही जैनधर्ममें लोक-हितकी दृष्टिसे 'समाधिमरण' का विधान एवं उपदेश है।

उस हालतमें तो इस समाधिमरणकी और भी विशेष आवश्यकता है, जब ज्ञानी-व्रतीने जीवनभर सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप और संयमादि गुणोंकी आराधनाकी है, उनका निरन्तर अभ्यास किया है और अपनेको सामान्य-जनसे विशिष्ट (ज्ञानी-व्रती) बनाया है। उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पर्यायका अन्त निकट आजानेपर—शरीर-के साथ असाध्य रोगादिकका सम्बन्ध उपस्थित हो जानेपर—वह अपनी चिरकालके प्रयास और अभ्याससे अर्जित बहुमूल्य सम्यक्त्वादि-आत्मधर्म-निधिकी रक्षा करे—उसे नष्ट न होने देवे।

कृतिकारने समाधिमरणके जैन शास्त्रोंमें वर्णित इसी महत्त्वको दृष्टिमें रखकर उसका इसमें विशद विवेचन किया है। इसमें कुल २१५ पद्य हैं और वे अन्तके तीन पद्योंको, जिनमें दो (२१३ व २१५) शार्दूलविक्रीडित तथा एक (२१४) मालिनी हैं, छोड़कर सब अनुष्टुप् छन्दमें हैं। भाषा और साहित्यकी दृष्टिसे रचना पर्याप्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। कतिपय स्थलोंपर जो कुछ रचना-शैथिल्य देख पड़ता है वह लेखकोंकी असावधानीका फल हो सकता है, जिसे दूर करनेका हमने, उन स्थलोंपर [ ], ( ) ऐसे ब्रेकटोंमें अपनी ओरसे पाठोंका निक्षेप करके, प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि समाधि-मरण करने-करानेवालोंके लिए यह रचना बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

कृतिकार आ० सकलकीर्ति :

इसके रचयिता आचार्य सकलकीर्ति हैं, जो धर्म-प्रभावक और साहित्यकार दोनों थे। ग्रन्थमें यद्यपि कोई प्रशस्ति लगी हुई नहीं है, फिर भी ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें 'सुगणि-सकलकीर्त्या' पदके द्वारा अपनेको गणी—गणधर अथवा आचार्य सूचित किया है, और सकलकीर्ति-रासमें इन्हें 'गणहर-रयण' (गणधर-रत्न) लिखा है, इससे दोनों उल्लेखोंकी संगति ठीक बैठ जाती है। और इसलिये ये सकल-कीर्ति वे ही हैं जो रासादिके अनुसार भ० पद्मनन्दीके शिष्य थे और

जिनके शिष्य उक्त रासकार ब्रह्मचारी जिनदास थे। पण्डित परमानन्द-जी शास्त्रीने इन सकलकीर्तिका जो संक्षिप्त परिचय लिखकर हमें भेजा है उसे हम नीचे दे रहे हैं :—

जन्म और दीक्षा :

सकलकीर्ति एक प्रभावक आचार्य थे। इनका जन्म सं० १४४३ में हुआ था। इनके माता-पिता 'अणहिलपुर-पट्टण' के निवासी थे। इनकी जाति हुंबड थी, जो गुजरातकी एक प्रतिष्ठित जाति है। इस जातिमें अनेक प्रसिद्ध पुरुष और दानी श्रावक-श्राविकाएँ हुई हैं। इनके पिताका नाम 'करमसिंह' और माताका नाम 'शोभा' था। बाल्यावस्थाका इनका नाम पूर्णसिंह था। जन्म-कालसे ही ये होनहार तथा कुशाग्र-बुद्धि थे। पिताने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही इन्हें विद्यारम्भ करा दिया था और थोड़े ही समयमें उसे इन्होने पूर्ण कर लिया था। पूर्णसिंहका मन स्वभावतः अर्हद्भक्तिकी ओर रहता था। चौदह वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हो गया था। किन्तु इनका मन सांसारिक विषयोंकी ओर नहीं था। अतः ये घरमें उदासीन भावसे रहते थे। माता-पिताने इनकी उदासीन वृत्ति देखकर इन्हें बहुत समझाया और कहा कि 'हमारे 'पास प्रचुर धन-सम्पत्ति है वह किस काम आवेगी? संयम-पालनके लिए तो अभी बहुत समय पड़ा है।' परन्तु पूर्णसिंह ४ या ६ वर्षसे ज्यादा घरमें नहीं रहे और २० वर्षकी अवस्थामें वि० सं० १४६३ में 'नेणवा' ग्राम आकर भ० प्रभाचन्द्रके पट्टशिष्य मुनि पद्मनन्दिके पास दीक्षित हो गये। और उनके पास आठ वर्ष रहकर जैन सिद्धान्तका अध्ययन किया। गुरुने इनका नाम 'सकलकीर्ति' रखा और तबसे—दीक्षाकालसे—ये 'सकलकीर्ति' के नामसे विश्रुत हुए[१]।

किन्तु यशःकीर्ति-भण्डार ऋषभदेवकी पट्टावलीके अनुसार इन्होंने

१. देखिए, सकलकीर्तिरास (अप्रकाशित), जो सकलकीर्तिके शिष्य ब्रह्मचारी जिनदासका रचा हुआ है।

१८ वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ली थी और २६ वर्षकी अवस्थामें 'नेणवा' आये तथा वहाँ ८ वर्ष तक रहे थे। पश्चात् ३४ वर्षकी अवस्थामें 'आचार्य' पद प्राप्त किया था। तदनन्तर वे अपने प्रदेशमें वापस आ गये और धर्म-प्रचारका कार्य करने लगे। इसी पट्टावलीमें उल्लिखित एक घटनाके आधारपर कहा जा सकता है कि उस समय वे नग्न अवस्थामें रहते थे और बागड प्रदेशमें विहार करते थे। वह घटना इस प्रकार है :—

जब वे एक बार 'खोडरणा' नामक नगरमें आये और नगरके बाहर उद्यानमें ध्यान लगाकर बैठ गये तो उधर नगरसे एक श्राविका पानी भरनेके लिए कूएँ पर आई और नग्न साधुको बैठा देखकर वापस जा अपनी सासुसे उसने कहा कि 'कोई नग्न साधु नगरके बाहर उद्यानमें बैठा हुआ है, जिसके पास लकड़ीका कमण्डलु और एक मोर-पिच्छिका है।' यह सुनकर उसकी सास वहाँ गई और उन्हें त्रिबार 'नमोस्तु' कहकर उनकी उसने तीन प्रदक्षिणा दीं। आचार्य महाराज मौन व्रत लिए हुए थे, इसलिए उन्होंने उसे कोई उपदेश न देकर केवल 'धर्मवृद्धि' दी[1]।

इन दोनोंके अतिरिक्त ऐतिहासिक पत्रमें लिखा है कि सकलकीर्तिने पद्मनन्दीसे २६ वर्षका अवस्थामे दीक्षा ली। और आठ वर्ष उनके पास अध्यन किया। सं० १४७१ में ३४ वर्षकी अवस्थामें आचार्य अवस्थामें 'खोडरणा' गाँवमें गए। बागड व गुजरातमें २२ वर्ष तक नग्न-विहार किया। और ५६ वर्षकी अवस्थामें १४९९ में महासाना ग्राममें स्वर्गवासी हुए। जैसा कि उक्त पत्रके निम्न उद्धरण वाक्यसे प्रकट हैं :—

'श्री दुँढाहड देश माहे ग्राम नैणव (नैनवा) जईने भट्टारकजी श्रीप्रभाचन्द्रजी त्यहनै पाट भट्टारक श्रीपद्मनंदी पासै जाईनै दीक्षा लीधी।

१. देखिए, यशःकीर्ति, भट्टारक-पट्टावली।

आचार्य श्रीसकलकीर्ति वर्ष २६ छवीसनी संख्या (अवस्था) हत्थी, ती बारैं संयम लेई वर्ष ८ श्रीगुरुपासे रहीनै व्याकर्ण भण्या, तथा काव्य तथा न्यायशास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्र, गोम्मटसार तथा त्रिलोक-सार तथा पुराण सर्वे तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि ? सर्वशास्त्र पूर्व देश मांहै रहीने ८ वर्ष माहै भणिनै श्रीबागड गुजरात मांहै गाम खुडैणै पधारया। वर्ष ३४ नी अवस्था थई। तीवारे सं० १४७१ वर्षे खुडेणे पधारया। सो दीन ३ तो कैणै आचार्य ऊ लखा नाहीं, पीछैं साहश्रीपोचागृहे आहार लीधो। तेहां थकी श्रीबागडदेश तथा गुजरात देशमांहै विहार कीधो। वर्ष २२ पर्यंत नग्न हता जुमले वर्ष ५६ छपन पर्यंत आवर्दा (आयु) भोगवीने धर्मप्रभर्वाने सं० १४९९ गाम मेसांणे गुजरात त्याहीने श्रीसकलकीर्ति स्वर्गलोक तथा जैसी गति बंध होतो ते बंध बांधिनै प्रोक्ष (परोक्ष) थयार्जा'।[1]'

परन्तु रासमें १८ वर्षकी अवस्थामें सं० १४६३ मे पद्मनंदिसे दीक्षा लेने. संयम पालने तथा आचार्यपद पानेकी बात कही गई है[2]। इससे दोनो कथनोमे परस्पर अन्तर हो गया है, जो किसी भूल वा गलतीका परिणाम जान पड़ता है[3]। पत्रकी बात कुछ सही जँचती है।

---

१. यह ऐतिहासिक पत्र जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ११ पृ० ११३ पर छपा है।

२. वित पञ्च वरस अठार सबल परिण संयम लेइए ॥२६
चउद त्रसठि वीस खडलि धन विनु बे चीऊए।
मोह मान मद मूकि पदमनंदि गुरु दीखियाए ॥२७
पच महाव्रत धार पंचइ इंद्री जणि वश करीइ।
चहुदिसि करि विहार सकलकीरति गणहररयण ॥२८
नयणाची हुनि रूप आचारिज पद पामीयूए।—(सकलकीर्तिरास)

३. जहाँ तक हमने इस विषयपर विचार किया है, हमें वह भूल या गलती

तपश्चर्या और धार्मिक कार्य :

सकलकीर्तिने अपने तपस्वी जीवनमें अनेक तपों एवं कठोर व्रतोंका आचरण किया था। उनके उन तपोंके कुछ नाम इस प्रकार हैं:— रत्नावली, सिंहविक्रम, सर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, मुक्तावली, विमान-पंक्ति, मेरुपंक्ति और नन्दीश्वरपंक्ति[1] आदि। एकान्तर उपवास आदि तो उनके लिए बहुत साधारण हो गये थे।

उनके धार्मिक कार्योंपर दृष्टिपात करनेपर ज्ञात होता है कि उन्होंने गुजरातमें विहार कर वहाँकी धार्मिक शिथिलताको दूर किया था।

मुख्यतः संवत्को लिखने अथवा पढ़नेकी जान पड़ती है। सकलकीर्तिरासमें जो दीक्षाका संवत् दिया गया है वह 'चउद उनसत्तरि'के स्थानपर 'चउद त्रसटि' लिखा या पढ़ा गया जान पड़ता है। संवत्के १४६९ होनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षा २६ वर्षकी अवस्थामें हुई है; क्योंकि जन्मसंवत् १४४३ है। यदि जन्मका तथा दीक्षाका महीना मालूम हो और उनकी दृष्टिसे दीक्षाके समय सं० १४७० आगया हो तो उक्त पाठ 'चउद सत्तरि' भी हो सकता है। और इस तरह तीनो उल्लेखोंकी संगति ठीक बैठ सकती है।

अब रही १८ वर्षकी अवस्थामें दीक्षाकी बात, वह मुनि-दीक्षाकी बात नहीं, बल्कि संयम लेनेकी बात है और वह सकलसंयम न होकर देशसंयम है, जिसे लेकर सकलकीर्ति गुरु पद्मनन्दिके पास प्रायः आठ वर्ष तक विद्याध्ययन करते रहे हैं, आवश्यक विद्याकी पूर्णतापर उन्हें दीक्षा दी गई है, और ऐसा बहुधा होता है। दीक्षा उनकी भट्टारकीय प्रथाके अनुसार ही हुई है, जिसमें वे सवस्त्र रहे जान पड़ते है। जब उन्हें आचार्यपद प्राप्त हो गया और वे अपने विषयमें स्वतंत्र हो गये, तबसे उन्होंने नग्न-दिगम्बरवेष धारण किया और उसी रूपमें २२ वर्ष तक विहार किया है। अन्यथा दीक्षाके समयसे ही यदि वे नग्न हो गये होते तो नग्नरूपमें विहारकाल २२ वर्षका न होकर ३० वर्षका होता। —सम्पादक

१. इन व्रतोंका स्वरूप हरिवंशपुराणादिसे जाना जा सकता है।

अनेक जिन-मन्दिर बनवाये और उनमें अनेकों जिन-मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करवाई। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ राजस्थान और गुजरातमें उपलब्ध होती हैं। यह बताना कठिन है कि उन्होंने अपने जीवनमें कितनी प्रतिष्ठाएँ कराई थीं। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि सं० १४८७ से १४९७ तककी इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलती हैं। इन्होंने ३४ वर्षकी आयुसे लेकर ५६ वर्षकी आयु पर्यन्त लगातार २२ वर्षतक बागड तथा गुजरात प्रान्तमें विहार किया था। नोगांवमें नन्दीश्वर द्वीपके ५२ चैत्यालयोंकी स्थापना कराई थी। सं० १४८२ में डूंगरपुरमें संघपति नरपालके समयमें दीक्षा-महोत्सव किया गया था। सं० १४९२ में गलियाकोटमें 'आचार्य' पद स्थापन किया और चतुर्विंशति-जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा संघपति मूलराजने कराई। 'झाडुलि' नामक स्थानमें भी प्रतिष्ठा कराई गई थी।

नागद्रह (नागदा), जो उदयपुरमें एकलिंग मंदिरके पास ही खण्डहर स्थान है, किसी समय राजधानी था और समृद्ध नगर था। यहाँका प्रसिद्ध राजा जैलसिंह था। यहाँ १३ वीं, १४ वीं शताब्दीमें अनेक जैन-मन्दिरोंका निर्माण हुआ था। उनमें कुछ खण्डहर हो गये और कुछ अब भी मौजूद हैं। इस नागद्रहमें संघपति ठाकुरसीहके अनुरोधसे जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा हुई थी। डूंगरपुरमें भी सं० १४९० में वैशाख सुदी ९ शनिवारको आदिनाथकी मूर्तिको प्रतिष्ठा कराई गई थी और १४ तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंको भी प्रतिष्ठित किया गया था। सकलकीर्तिने अनेक तीर्थोंकी यात्राएँ भी की थीं। इन सब धार्मिक प्रवृत्तियोंसे सकल-कीर्तिकी धार्मिक रुचि एवं श्रद्धा विशेष एवं व्यापक जान पड़ती है।

साहित्य-रचना :

सकलकीर्ति न केवल धर्म-प्रभावक आचार्य थे, किन्तु वे साहित्य-स्रष्टा भी थे। उनके द्वारा रचित लगभग ३७ ग्रंथोंकी सूचना मिलती

है। इनके किसीभी ग्रंथमें रचना-कालका उल्लेख नहीं है, फिर भी यही जान पड़ता है कि वे चातुर्मास-कालों में रचे गये होंगे। सं० १४८१ में इन्होंने बड़ालीमें पार्श्वनाथ मन्दिरमें चातुर्मास किया था। इस चातुर्मासमें उन्होंने अपने शिष्य एवं लघुभ्राता ब्रह्म जिन दासके अनुरोधसे मूलाचार प्रदीपकी रचना की थी। उनके द्वारा रचित ग्रंथोंके नाम इस प्रकार हैं :—

१. मूलाचार-प्रदीप, २. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, ३. आदिपुराण, ४. उत्तरपुराण, ५. शान्तिनाथचरित, ६. वर्धमानचरित, ७ मल्लिनाथ-चरित, ८. यशोधरचरित, ९. धन्यकुमारचरित, १०. सुकमालचरित, ११. सुदर्शनचरित, १२. जंबूस्वामीचरित, १३. श्री पालचरित, १४. सद्भाषितावली, १५. पार्श्वनाथपुराण, १६. सिद्धान्तसारदीपक, १७. व्रतकथाकोष, १८. पुराणसारसंग्रह, १९. तत्वार्थसारदीपक, २०. परमात्मराजस्तोत्र, २१. आगमसार, २२. आराधनाप्रतिबोधसार, २३. सारचतुर्विंशतिका, २४. द्वादशानुप्रेक्षा, २५. पंचपरमेष्ठीपूजा, २६. अष्टाह्निकापूजा, २७. सोलहकारणपूजा, २८. गणधर-वलयपूजा, २९. नेमीश्वरगीत, ३०. मुक्तावलीगीत, ३१. णमोकारगीत, ३२. सोलह-कारणरास, ३३. शिखामणरास, ३४. रत्नत्रयरास, ३५. कर्मविपाक रास, ३६. पार्श्वनाथाष्टक, ३७. समाधिमरणोत्साहदीपक।

स्वर्गवास :

आ० सकलकीर्ति अपनी ५६ वर्षकी अवस्थामें महिसाना (गुजरात) जाकर वहाँ सं० १४९९ में स्वर्गवासी हुए थे। वहाँ उनका स्मृति-स्थान भी बना हुआ है।

इस प्रकार सकलकीर्ति-रास, ऐतिहासिक-पत्र और पट्टावली आदि-परसे संकलित किया गया यह आचार्य सकल-कीर्तिजीका संक्षिप्त परिचय है।

प्राक्कथन

समाधि-पूर्वक मरण

देहके स्वतः छूटने, छुड़ाने तथा त्यागनेको 'मरण' कहते हैं जिसका आयुःक्षयके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है[1]। जो जन्मा है उसका एक-न-एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह किसी भी विधिसे क्यों न हो। ऐसा कोई भी प्राणी संसारके इतिहासमें नहीं, जो जन्म लेकर मरणको प्राप्त न हुआ हो। बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न राजा-महाराजा, चक्रवर्ती, देव दानव, इन्द्र-धरणेन्द्र, वैद्य-हकीम-डाक्टर और ऋषि-मुनि तक सबको अपना-अपना वर्तमान शरीर छोड़कर कालके गालमें जानेके लिये विवश होना पड़ा है। कोई भी दिव्य-शक्ति-विद्या-मणि-मंत्र-तंत्र-औषधादिक किसीको भी काल-प्राप्त मरणसे बचानेमें कभी समर्थ नहीं होसके हैं। इसीसे 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्'—मरना देहधारियोंकी प्रकृतिमें दाखिल है, वह उनका स्वभाव है, उसे कोई टाल नहीं सकता—यह एक अटल नियम बना हुआ है।

ऐसी स्थितिमें जो विवेकी हैं—जिन्होंने देह और आत्माके अन्तरको भले प्रकारसे समझ लिया है—उनके लिये मरनेसे डरना क्या? वे तो समझते हैं कि जीवात्मा अलग और देह अलग है—दोनों स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं—जीवात्मा कभी मरता नहीं, मरण देहका होता है, जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले कुचैले तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रको त्यागकर नया वस्त्र धारण किया जाता है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं, यह तो एक प्रकारसे आनन्दका विषय है

---

१. आउक्खएण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं। (समयसार)। आउक्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि। (कार्तिके०)।

और इस लिये वे भय, शोक तथा संक्लेशादिसे रहित होकर सावधानीके साथ देहका त्याग करते हैं। इस सावधानीके साथ देहके त्यागको ही 'समाधि-मरण' कहते हैं। मरणका 'समाधि' विशेषण इस मरणको उस मरणसे भिन्न कर देता है जो साधारण तौरपर आयुका अन्त आनेपर प्रायः संसारी जीवोंके साथ घटित होता है अथवा आयुका स्वतः अन्त न आनेपर भी क्रोधादिकके आवेशमें या मोहसे पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी, Suicide) के रूपमें उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें आत्माकी कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती। समाधि-पूर्वक मरणमें आत्माकी प्रायः पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायोंके आवेशमें कुछ नहीं किया जाता; प्रत्युत इसके उन्हें जीता जाता है तथा चित्तकी शुद्धिको स्थिर किया जाता है और इसीसे कषाय तथा कायके संलेखन—कृषीकरण रूपमें इस समाधिमरणका दूसरा नाम 'सल्लेखना-मरण' भी है, जिसे आमतौरपर 'सल्लेखना' कहते हैं। यह सल्लेखना चूँकि 'मारणान्तिकी' होती है[1]—मरणका अवश्यम्भावी होना जब प्रायः निश्चित हो जाता है, तब की जाती है—इस लिये इसे 'अन्तक्रिया' भी कहते हैं। जो कि जीवनके अन्तमें की जाने-वाली आत्म-विकास-साधना-क्रियाके रूपमें एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिये अपघात, खुदकुशी (Suicide) जैसे—अपराधोंकी सीमासे बाहर-की वस्तु है। इस क्रिया द्वारा देहका जो त्याग होता है वह आत्म-विकासमें सहायक अर्हदादि-पंचपरमेष्ठी अथवा परमात्माका ध्यान करते हुए बड़े यत्न एवं सावधानताके साथ होता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'पंच-नमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन' इस वाक्यसे जाना जाता है—यों ही विष खाकर, कूपादिकमें डूबकर, पर्वतादिकसे गिरकर, अग्निमें जलकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादिसे आघात पहुँचाकर सम्पन्न नहीं किया जाता।

इस सल्लेखना अथवा समाधिमरणकी योग्यता-पात्रता कब प्राप्त होती है और उसे किस उद्देश्यको लेकर सम्पन्न किया जाता है इन दोनोंका बड़ा

१. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।—त० सू० ७-२२

ही सुन्दर निर्देश स्वामी समन्तभद्रने सल्लेखनाके अपने निम्न लक्षणमें अन्त-र्निहित किया है :—

> उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
> धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥
>
> —समीचीन धर्मशास्त्र

इसमें बतलाया है कि—'जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) तथा रोग प्रतीकार (उपाय-उपचार) रहित असाध्य दशाको प्राप्त हो जाय अथवा (चकारसे) ऐसा ही कोई दूसरा प्राणघातक अनिवार्य[1] कारण उपस्थित हो जाय तब धर्मकी रक्षा—पालनाके लिये जो देहका विधिपूर्वक त्याग है उसको सल्लेखना—समाधिमरण कहते हैं।'

इस लक्षण-निर्देशमें 'निःप्रतीकारे' और 'धर्माय' ये दो पद खास-तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। उपसर्गादिकका 'निःप्रतीकार' विशेषण इस बातको सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन-कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिकको दूर करनेका जब कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्तको पाकर एक मनुष्य सल्लेखनाका अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा—उपायके संभव और सशक्य होनेपर—वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं होता।

दूसरा 'धर्माय' पद दो दृष्टियोंको लिये हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्मकी रक्षा—पालनाकी और दूसरी आत्मीय धर्मकी यथाशक्य साधना—आराधना की। धर्मकी रक्षादिके अर्थ शरीरके त्यागकी बात सामान्य रूपसे कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है; क्योंकि आम तौरपर 'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्' इस वाक्यके अनुसार शरीर धर्मका साधन माना

---

१. भगवती आराधनामें भी ऐसे दूसरे सदृश कारणोंकी कल्पना एवं सूचना की गई है; जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

'अण्णं पि चापि एदारिसम्मि अगाढकारणे जा दे।'

जाता है, और यह बात एक प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु शरीर धर्मका सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नहीं है, वह साधक होनेके स्थानपर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीरको कायम (स्थिर रखने) अथवा उसके अस्तित्वसे धर्मके पालनमें बाधाका पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्मकी रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानतासे उल्लेख है। विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणादि द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्मको छोड़नेके लिये मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अतः धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिकका समय रहते विचारकर धर्म-भ्रष्टतासे पहले ही बड़ी खुशी एवं सावधानीसे उस धर्मको साथ लिये हुए देहका त्याग करते हैं जो देहसे अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टिके अनुसार जब मानव रोगादिकी असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकारसे मरणका होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रताके साथ धर्मकी विशेष साधना-आराधनाके लिये प्रयत्नशील होता है, किये हुए पापोंकी आलोचना करता हुआ महाव्रतों तकको धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मीजनोंकी योजना करता है जो उसे सदा धर्ममें सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा कष्टके अवसरोंपर कायर न होने देवें। वह मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठता है, उसे बुलानेकी शीघ्रता नहीं करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ़ जाय। ये दोनों बातें उसके लिये दोषरूप होती हैं; जैसा कि इस सल्लेखना व्रतके अति-चारोंकी कारिका (१२९) के 'जीवितमरणाशंसे' वाक्यसे जाना जाता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने उक्त धर्म-शास्त्रमें 'अन्तक्रियाधिकरणं तपः-फलं सर्वदर्शिनः स्तुवते' इत्यादि कारिका (१२३) के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि 'तपका फल अन्तक्रियाके—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधि-पूर्वक मरणके—आधारपर अवलम्बित है। अर्थात् अन्तक्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधिपूर्वक मरण बनता है—तो किये हुए तपका फल भी सुघटित होता है, अन्यथा उसका फल नहीं भी मिलता। अन्तक्रियासे पूर्वका

वह तप कौन-सा है जिसके फलकी बातको यहाँ उठाया गया है ? वह तप श्रावकोंका अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है और मुनियोंका महाव्रत-गुप्ति-समित्यादिरूप चारित्र है। सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमें जो कुछ उद्योग किया जाता और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है'। इस तपका परलोक-सम्बन्धी यथेष्ट फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधिपूर्वक मरण होता है, क्योंकि मरणके समय यदि धर्मानुष्ठानरूप परिणाम न होकर धर्मकी विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गतिमें जाना पड़ता है और वहाँ पूर्वोपार्जित शुभकर्मोंके फलको भोगनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता—निमित्तके अभावमें वे शुभकर्म बिना रस दिये ही खिर जाते हैं। एक बार दुर्गतिमें पड़कर बहुधा दुर्गतिकी परम्परा बन जाती है और पुनः धर्मको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसीसे श्री शिवार्यजी अपनी भगवती आराधनामें लिखते हैं कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्ममें चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी यदि मरणके समय उस धर्मकी विराधना कर बैठता है, तो वह अनन्तसंसारी तक—अनन्तकालपर्यन्त संसार भ्रमण करनेवाला हो जाता है—

सुचिरमपि निरदिचारं विहरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते।
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५॥

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि अन्त समयमें धर्म-परिणामोंकी सावधानी न रखनेसे यदि मरण बिगड़ जाता है तो प्रायः सारे ही किये-करायेपर पानी फिर जाता है। इसीसे अन्त-समयमें परिणामोंको सँभालनेके लिये बहुत बड़ी सावधानी रखनेकी जरूरत है और इसीसे उक्त कारिकाके उत्तरार्द्ध 'तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्' में इस बातपर जोर दिया गया है

१. जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है—
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥ १०॥

कि जितनी भी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरणका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

इन्हीं सब बातोंको लेकर जैन-समाजमें समाधिपूर्वक मरणको विशेष महत्व प्राप्त है। उसकी नित्यकी पूजा-प्रार्थनाओं आदिमें 'दुक्खखओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि' जैसे वाक्यों-द्वारा समाधिमरणकी बराबर भावना की जाती है, और भगवती-आराधना जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषयकी महती चर्चाओं एवं मरण-सम्बन्धी सावधानताकी प्रक्रियाओंसे भरे पड़े हैं। लोकमें भी 'अन्तसमा सो समा', 'अन्तमता सोमता' और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्योंके द्वारा इसी अन्त-क्रियाके महत्त्वको ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनोंके लिये विहित एवं निर्दिष्ट है।

ऐसी स्थितिमें जो मरणासन्न है, जिसने सल्लेखनात्मक संन्यास लिया है अथवा समाधिपूर्वक मरणका संकल्प किया है उसके परिणामोंको ऊँचा उठानेकी—गिरने न देनेकी—बड़ी जरूरत होती है; क्योंकि अनादि, अविद्या तथा मोह-ममतादिके संस्कारवश और रोगादि-जन्य वेदनाके असह्य होनेपर बहुधा परिणामोंमें गिरावट आजाती है, परिणामोंकी आर्त-रौद्रादिरूप परिणति होकर संक्लेशता बढ़ जाती है और उससे मरण बिगड़ जाता है। अतः सुन्दर सुमधुर तात्त्विक वचनोंके द्वारा उसके आत्मामें भेद-विज्ञानको जगानेकी जरूरत है, जिससे वह अपनेको देहसे भिन्न अनुभव करता हुआ देहके छूटनेको अपना मरण न समझे, रोगादिकको देहाश्रित समझे और देहके साथ जिनका सम्बन्ध है उन सब स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिको 'पर' एवं अवश्य ही वियोगको प्राप्त होनेवाले तथा साथ न जानेवाले समझकर उनसे मोह-ममताका त्यागकर चित्तमें शान्तिधारण करे; उसके सामने दूसरोंके ऐसे भारी दुःख-कष्टोंके और उनके अडोल रहकर समताभाव धारण करने तथा फलतः सद्‌गति प्राप्त करनेके उदाहरण भी रखने चाहिये, जिससे वह अपने दुःख-कष्टोंको अपेक्षाकृत बहुत कम समझे और व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल न होकर हृदयमें बल तथा उत्साहकी उदीरणा करनेमें समर्थ होवे।

साथ ही इस देहके छूटनेसे मेरी कोई हानि नहीं; यह तो चोला बदलना मात्र है, पुराने जर्जर अथवा रोगादिसे पीड़ित शरीरके स्थानपर धर्मके प्रतापसे नया सुन्दर शरीर प्राप्त होगा, जिससे विशेष धर्म-साधना भी बन सकेगी, ऐसी भावना भाता हुआ मरणको उत्सवके रूपमें परिणत कर देवे। इसी उद्देश्यको लेकर 'मृत्यु-महोत्सव' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थोंकी रचना हुई है। प्रकृत ग्रन्थ '*समाधिमरणोत्साहदीपक*' भी इसी उद्देश्यको लेकर निर्मित हुआ है, जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट है।

ग्रन्थकी उपलब्धि

यह ग्रन्थ, जो कि विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य सकलकीर्तिकी कृति है, अभी तक अनुपलब्ध था, ग्रन्थ-सूचियोंमें भी इसका नाम नहीं मिल रहा था। आजसे कोई दस वर्ष पहले अजमेर बड़ा धड़ा पंचायती जैन-मन्दिरके भट्टारकीय शास्त्र-भण्डारको देखते हुए मुझे एक जीर्ण-शीर्ण प्राचीन गुटकेपरसे इसकी उपलब्धि हुई थी, जिसकी सूचना मैंने अनेकान्त वर्ष ४ की संयुक्त किरण ३-४ में 'पुराने साहित्यकी खोज' शीर्षकके नीचे नं० ८ पर प्रकाशित की थी और यह प्रकट किया था कि इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने समाधि-सिद्धिके लिए अच्छी सामग्री जुटाई है, समाधिपूर्वक मरणकी विधि-व्यवस्था बतलाई है और ऐसी सत्शिक्षाओंकी साथमें योजना की है जिससे मरते समय हृदयमें निजात्माका भान होकर मोहका विघटन हो जाय, शान्ति तथा समताकी प्रतिष्ठा हो सके, रोगादि-जन्य वेदनाएँ चित्तको उद्वेजित न कर सकें, धैर्य गिरने न पावे और उत्साह इतना बढ़ जाय कि मृत्यु भयकी कोई वस्तु न रहकर एक महोत्सवका रूप धारण कर लेवे। साथ ही अनुवादादिके साथ इसके शीघ्र प्रकाशनकी आवश्यकता भी व्यक्त की थी। तदनुसार आज उसे प्रकाशित देखकर मेरी प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है। आशा है, बहुतोंके समाधिमरणमें यह ग्रन्थ सहायक होकर अपने उद्देश्यको पूरा करनेमें सफल होगा।

जो सज्जन किसीके भी समाधिमरणमें सहायक होकर—अपनी आवश्यक सेवाएँ प्रदानकर—उसे विधिपूर्वक सम्पन्न कराते हैं उनके समान उसका दूसरा कोई उपकारी या मित्र नहीं है। और जो इष्ट-मित्रादिक उस मरणासन्नके हितकी, परलोक सुधारनेकी—कोई चिन्ता तथा विधि-व्यवस्था न करके अपने स्वार्थमें बाधा पड़ती देखकर रोते-पीटते-चिल्लाते हैं तथा ऐसे वचन मुँहसे निकालते हैं जिससे म्रियमाण आतुरका चित्त विचलित हो जाय, मोह तथा वियोग-जन्य दुःखसे भर जाय और वह आत्मा तथा अपने भविष्यकी बातको भुलाकर संक्लेश-परिणामोंके साथ मरणको प्राप्त होवे, तो वे इष्ट-मित्रादिक वस्तुतः उसके सगे-सम्बन्धी नहीं, किन्तु अपने कर्तव्यसे गिरे हुए अपकारी एवं शत्रु होते हैं। ऐसे ही लोगोंको स्वार्थके सगे अथवा मतलबके साथी कहा जाता है। अतः मरणासन्नके सच्चे सगे-सम्बन्धियोंको चाहिये कि वे अपने कर्त्तव्यका पूर्ण-तत्परताके साथ पालन करते हुए उसके भविष्य एवं परलोक सुधारनेका पूरा प्रयत्न करें। अपने रोने-रडानेके लिये तो बहुत समय अवशिष्ट रहता है, मरणासन्नके सामने रो-रडाकर तथा विलाप करके उसकी उस अमूल्य मरण-घड़ीको नहीं बिगाड़ना चाहिये, जिसे समताभाव तथा शुभ परिणामोंके अस्तित्वमें कल्पवृक्षके समान मनकी मुराद पूरी करनेवाली कहा गया है और इसलिये जिसे उत्सव, पर्व तथा त्यौहारके रूपमें मनानेकी जरूरत है।

एटा, भाद्रपदकृष्णा ८ सं० २०२१
३० अगस्त, १९६४

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रस्तावना

जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

पृष्ठभूमि :

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि-प्रवाह संबंध है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवकी मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाहमें जीवोंको नाना क्लेशों और दुःखोंको भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्यको जानते हुए भी उससे मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नहीं देते[2]। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे *'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो* उसकी मृत्युपर आसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोंकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है[3]। अतएव जैन मनीषियोंने उनकी मृत्युको 'मृत्युमहोत्सव'के रूपमें वर्णन किया है[4]। इस वैलक्षण्यको समझना कुछ कठिन नहीं है। यथार्थमें साधारण लोग संसार (विषय-कषायके पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़नेमें उन्हें

---

१. 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।'—गीता २-२७।

२, ३. 'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥'—मृत्युमहोत्सव श्लो० १७।

४. 'ज्ञानिन ! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं याति देहाद्देहान्तरस्थितिः ॥—मृत्युमहोत्सव श्लो० १०

दुःखका अनुभव होता है और उनके मिलनेमें हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्माके भेदको समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषाय-की पोषक बाह्य वस्तुओंको ही, अपितु अपने शरीरको भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीरको छोड़नेमें उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनियाको नहीं मानते, किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणोंको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरके त्यागपर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणोंमें जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोड़ने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमें उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रको छोड़ने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमें अधिक प्रसन्न होता है[1]।'

इसी तथ्यको दृष्टिमें रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोंमें सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमें झुलसते हुए असावधान अवस्थामें हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामोंके साथ विवेकपूर्ण स्थितिमें वीरोंकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोंके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमें उसीके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

१. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥

—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५।

गीतामें भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा- न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥—गीता २-२२।

सल्लेखना और उसका महत्व :

'सल्लेखना' शब्द जैन-धर्मका पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है— 'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना'—सम्यक् प्रकारसे काय और कषाय दोनोको कृष करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समयमें की जाने-वाली जिस क्रिया-विशेषमें बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोंका, उनके कारणोंको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना है[१]। उसीको 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपो और संयमकी संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृतिमे 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामोके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलोंके संयोगका नाम जन्म है और उन्हीके क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है। एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव-मरण है[२]। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका

---

१. (क) 'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।'

—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) 'मरणान्तिकी सल्लेखना जोषिता'

—आ० गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसू० ७-२२।

१. 'स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलाना च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरणं द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्।'—

—अकलङ्कदेव, तत्त्वार्थवा० ७-२२।

आत्म-परिणामोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर तद्भव-मरणका कषायों एवं विषय-वासनाओंकी न्यूनाधिकताके अनुसार आत्म-परिणामोंपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिये ही पर्यायके अन्तमें 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखनासे अनन्त संसारकी कारणभूत कषायोंका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिलकुल सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना-धारणपर बल देते हुए कहते हैं[१] कि 'जो भद्र एक पर्यायमें समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसारमें सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।' आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक लिखते हैं[२] कि 'सल्लेखना-धारक (क्षपकका) भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोंको भोगकर *अन्तमें उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।'*

तेरहवीं शताब्दीके प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बड़े ही प्राञ्जल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए कहा है[३] कि 'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो,

---

१. 'एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ-भवे पमत्तूण ॥'—भगवती आरा०।

२. 'सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥—भगवती आरा०।

३. 'कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥'
—आशाधर, सागारधर्मा० ८-६।

प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।' वे असावधानी एवं आत्म-घातके दोषसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है। उस हालतमें व्रतीको आत्म-धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनामें लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है[१]।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्ने भी प्रतिपादन किया है कि 'जिस शरीर-का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोंको यथाख्यात चारित्र (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है[२]'।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमें समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जाग्रत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीरत्याग करता है। वे लिखते हैं[३]:—

'जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानीपूर्वक किये गये समाधि-मरणसे जीवोंको सहजमें प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है।'

१. 'देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥ —सागारधर्मा०, ८-१०।

२. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥ —आदर्श सल्ले.पृ.१९।

३. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात्।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥—मृत्युमहोत्सव श्लोक २१,२३।

'बहुत कालतक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र-ज्ञानका एक-मात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।'

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमें आचरित तपोंका फल वस्तुतः अन्त समयमें गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करनेपर जोर देते हैं[1]।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं[2] कि 'मरण किसीको इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकारके सोना चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदिका व्यवसाय करनेवाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नहीं है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ आजाना या राज्यमें विप्लवका हो जाना आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता, तो घरमें रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोंका अर्जन करनेवाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नोंके आधारभूत शरीरकी, पोषक आहार-औषधादि द्वारा, रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर दैववश शरीरमें उसके विनाश कारण (असाध्य रोगादि)

---

१. अन्तः-क्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥ —रत्नकरण्डश्रा० ५-२।

२. मरणस्यानिष्टत्वात्। यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते। —सर्वार्थसि ७-२२।

उपस्थित हो जायँ, तो वह उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीरकी रक्षा अब सम्भव नहीं है, तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणोंको वह सल्लेखना-द्वारा रक्षा करता है और शरीरको नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखोंसे सल्लेखनाकी उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहजमें जानी जा सकती है। लगता है कि इसी कारण जैन-संस्कृतिमें सल्लेखनापर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकोंने अकेले इसी विषयपर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंमें अनेकों स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्यकी 'भगवती आराधना' इस विषयका एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साह-दीपक', 'समाधिमरणपाठ' आदि नामोंसे संस्कृत तथा हिन्दीमें भी इसी विषय-पर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि :—

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्त-भद्रस्वामीने-सल्लेखना-धारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—रत्नकरण्डश्रावका० ५-१।

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओंमें आत्म-धर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।'

स्मरण रहे कि जैन व्रती-श्रावक या साधुकी दृष्टिमें शरीरका उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्माका है, क्योंकि उसने भौतिक दृष्टिको गौण और आध्या-त्मिक दृष्टिको उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीरकी उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओंमें, जो साधारण व्यक्तिको विचलित कर देनेवाली होती हैं,

आत्म-धर्मसे च्युत न होता हुआ उसकी रक्षाके लिए साम्यभाव पूर्वक शरीरका उत्सर्ग कर देता है। वास्तवमें इस प्रकारका विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षोंके चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीसे सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है जिसे उच्च मनःस्थितिके व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्माके मध्यका अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेनेपर सल्लेखना-धारण कठिन नहीं रहता। उस अन्तरका ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि 'शरीरका नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्मका नाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीरका नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्म-धर्मका नाश होनेपर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है[१]।' अतः जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्माके अन्तरको जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मासेपरमात्माकी ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखनामें यही तत्त्व निहित है। इसीसे प्रत्येक जैन देवोपासनाके अन्तमें प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है[२]:

'हे जिनेन्द्र ! आप जगद् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। उसके प्रभावसे मेरे सब दुःखोंका अभाव हो, दुःखोंके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश हो और कर्मनाशके कारण समाधिमरणकी प्राप्ति हो तथा समाधिमरणके कारणभूत सम्यक्‌बोध (विवेक) का लाभ हो।'

जैन संस्कृतिमें सल्लेखनाका यही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पदकी उसमें

---

१. 'नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्त-दुर्लभः॥' —सा० ध० ८-७।

२. दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य।
मम होउ जगदबंधव ! तव जिणवर चरणसरणेण॥
—भारती० पृ० पृ० ८७।

कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधुने जो अब तक व्रत-तपादि पालनका घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे हैं, आत्म-शक्ति बढ़ाई है और असाधारण आत्म-ज्ञानको जाग्रत किया है उसपर सुन्दर कलश रखनेके लिए वह अन्तिम समयमें भी प्रमाद नहीं करना चाहता। अतएव वह जाग्रत रहता हुआ सल्लेखनामें प्रवृत्त होता है :—

सल्लेखनावस्थामें उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्धमें भी जैन लेखकोंने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्रने सल्लेखनाकी निम्न प्रकार विधि बतलाई है[1] :—

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओंमें राग, अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनोंमें ममत्व और धनादिमें स्वामित्वका त्याग करके मनको शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तिओंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा कराये और स्वयंभी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरोंसे कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना (उनपर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतोंका अपनेमें आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्माको निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म-विकारोंका भी परित्याग कर दे तथा आत्म-बल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनोंद्वारा मनको प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषायको शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीरको भी कृष करनेके लिए सल्लेखनामें प्रथमतः अन्नादि आहारका, फिर दूध, छाछ आदि पेय

---

१. स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृत-कारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥

पदार्थोंका त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।

अन्तमें उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण विवेकके साथ सावधानीमें शरीरको छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधिसे सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्माका साधन करता है और वर्तमान पर्यायके विनाशसे चिन्तित नहीं होता, किन्तु भावी पर्यायको अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनानेका पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रतमें दूषण लगनेकी सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं[1] :—

सल्लेखना ले लेनेके बाद जीवित रहनेकी आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकनेके कारण शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायमें सुखोंकी चाह करना—ये पाँच सल्लेखनाव्रतके दोष हैं, जिन्हें 'अतिचार' कहा गया है।

सल्लेखनाका फल :

सल्लेखना-धारक धर्मका पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥
खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥'—रत्नक० श्रा० ५,३-७।

१. 'जीवित-मरणाशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥—रत्नक० श्रा० ५,८।

निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाका फल बतलाते हुए लिखा है[1] :—

'उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृतका पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होकर या तो वह निःश्रेयसको प्राप्त करता है और या अभ्युदयको पाता है, जहाँ उसे अपरिमित सुखोंकी प्राप्ति होती है।'

विद्वद्वर पण्डित आशाधरजी भी कहते हैं[2] कि 'जिस महापुरुषने संसार-परम्पराके नाशक समाधिमरणको धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधिको परभवमें जानेके लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जानेवाला व्यक्ति पासमें पर्याप्त पाथेय होनेपर निराकुल रहता है। इस जीवने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्यसे या पुण्योदयसे अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेवने इस समाधि-सहित पुण्य-मरणकी बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चयसे संसाररूपी पिंजरेको तोड़ देता है—उसे फिर संसारके बन्धनमें नहीं रहना पड़ता है।'

सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य :

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम

---

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥—रत्नक० ५-९ ।

२. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।
समाधिमरणं येन भव-विध्वंसि साधितम् ॥
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥
—सा०ध० ७-५८, ८-२७, २८ ।

और श्रद्धाके साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधनामें गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्यमें, जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथसे विचलित न होने देनेके लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखनामें सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं। और समाधिमरणमें उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसारकी असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो, जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़नेका संकल्प कर चुका है। उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्यने भगवती-आराधना (गा० ६५०–६७६) में समाधिमरण-करानेवाले इन निर्यापक मुनियोंका बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है :—

'वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्त्व-विवेकी, विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।'

'४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करें। ४ मुनि क्षपकको उठाने-बैठाने आदिरूपसे शरीरकी टहल करें। ४ मुनि धर्म-श्रवण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करावे। ४ मुनि देख-भाल रखें। ४ मुनि शरीरके मलमूत्रादि क्षेपणमें तत्पर रहें। ४ मुनि वसतिकाके द्वारपर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामोंमें क्षोभ न कर सकें। ४ मुनि क्षपककी आराधनाको सुनकर आये लोगोंको सभामें धर्मोपदेशद्वारा सन्तुष्ट करें। ४ मुनि रात्रिमें जागे। ४ मुनि देशकी ऊँच-नीच स्थितिके ज्ञानमें तत्पर रहें। ४ मुनि बाहरसे आये-गयोंसे बातचीत करें। और ४ मुनि क्षपकके समाधिमरणमें विघ्न करनेकी सम्भावना से आये लोगोंसे वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें। इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपककी समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं। भरत और

ऐरावत क्षेत्रोंमें कालकी विषमता होनेसे जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणोंके धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणोंवाले निर्यापकोंसे भी समाधि करायें, अतिश्रेष्ठ है। पर एक निर्यापक नहीं होना चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपककी २४ घंटे सेवा करनेपर थक जायगा और क्षपककी समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा[१]।'

इस कथनसे दो बातें प्रकाशमें आती हैं। एक तो यह कि समाधिमरण करानेके लिये दो-से-कम निर्यापक नहीं होना चाहिए। सम्भव है कि क्षपककी समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशामें यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता। अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि प्राचीन कालमें मुनियोंकी इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनिकी समाधिमें ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपककी समाधिको वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ध्यान रहे कि यह साधुओंकी समाधि-का मुख्यतः वर्णन है। *श्रावकोंकी समाधिका वर्णन यहाँ गौण है।*

ये निर्यापक क्षपकको जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखनामें सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधरजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है[२]। वह कुछ यहाँ दिया जाता है :—

---

१. पिय-धम्मा दढ-धम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा।
छदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुद-रहस्सा।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं (४८) तु णिज्जवया॥
णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते॥
—शिवार्य, भगवती आराधना।

२. सागारधर्मामृत ८-४८ से ८-१०७।

'हे क्षपक ! लोकमें ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसका तुमने एकसे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका। परन्तु क्या कभी आत्माका हित कर सकती है ? आत्माका हित तो उसीके ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं। अतः बाह्य वस्तुओंसे मोहको त्यागो, विवेक तथा संयमका आश्रय लो। और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है। मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शनरहित है। मैं आनन्दघन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है।'

'हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखनाको तुमने अबतक धारण नहीं किया था उसे धारण करनेका सुअवसर तुम्हे आज प्राप्त हुआ है। उस आत्महितकारी सल्लेखनामें कोई दोष न आने दो। तुम परीषहों—क्षुधादिके कष्टोंसे मत घबड़ाओ। वे तुम्हारे आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरतासे सहन करो और उनके द्वारा कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा करो।'

'हे आराधक ! अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्वका वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्वका आराधन करो, पंचपरमेष्ठीका स्मरण करो, उनके गुणोंमें सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोगमें लीन रहो। अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो, कषायोंको जीतो, इन्द्रियोंको वशमें करो, सदैव आत्मामें ही आत्माका ध्यान करो, मिथ्यात्वके समान दुःखदायी और सम्यक्त्वके समान सुखदायी तीन लोकमें अन्य कोई वस्तु नहीं है। देखो, धनदत्त राजाका संघश्री मंत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्वकी विराधना की और मिथ्यात्वका सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गई और संसार-चक्रमें उसे घूमना पड़ा। राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बादको उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभावसे उसने अपनी बंधी हुई नरककी स्थितिको कम करके तीर्थङ्कर-प्रकृतिका बन्ध किया और भविष्यत्कालमें वह तीर्थङ्कर होगा।'

'इसी तरह हे क्षपक! जिन्होंने परीषहों एवं उपसर्गोंको जीत करके महाव्रतोंका पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त किया है। सुकमालमुनिको देखो, वे जब वनमें तप कर रहे थे और ध्यानमें मग्न थे, तो शृगालिनीने उन्हें कितनी निर्दयतासे खाया। परन्तु सुकमालस्वामी जरा भी ध्यानमे विचलित नहीं हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। शिवभूति महामुनिको भी देखो, उनके सिरपर आँधीसे उड़कर घासका ढेर आपड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यानसे रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भावसे शरीर त्यागकर निर्वाणको प्राप्त हुए। पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवोंके भानजे आदिने पुरातन वैर निकालनेके लिए गरम लोहेकी साखलोंसे उन्हें बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गोंको सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई।'

'अतः हे आराधक! तुम्हें इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरतासे सब कष्टोंको सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकारसे हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करो।'

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरणमें निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं। क्षपकके समाधिमरणरूप महान् यज्ञकी सफलतामें इन निर्यापक साधुवरोंका प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होनेसे उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवार्यने लिखा है[1] :—

'वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदरके साथ क्षपककी सल्लेखना कराते हैं।'

---

१. ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला। —भ० आ० गा, २००० ।

सल्लेखनाके भेद :

जैन शास्त्रोंमें शरीरका त्याग तीन तरहसे बताया गया है[1]। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीरका स्वतः छूटना है वह च्युत कहलाता है।

२. च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्तकारणोंसे शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरणकी आसन्नता ज्ञात होनेपर जो विवेकसहित संन्यासरूप परिणामोंसे शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त है।

इन तीन तरहके शरीर-त्यागोंमें त्यक्तरूप शरीर त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्थामें आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता।

इस त्यक्त शरीर-त्यागको ही समाधि-मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीन प्रकारका प्रतिपादन किया गया है;—१ भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्यागमें अन्न-पानको धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्तसे ऊपर तथा बारह वर्षसे नीचेका काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओंसे राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीरकी टहल स्वयं भी करता है और दूसरोंसे भी कराता है।

---

१. आ० नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ५६, ५७, ५८।

२. इंगिनी[1]—जिस शरीर-त्यागमें क्षपक अपने शरीरकी सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरेसे नहीं कराता उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बनका आश्रय ले लेता है।

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्यागमें इस सल्लेखनाका धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरेकी, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीरको लकड़ीकी तरह छोड़कर आत्माकी ओर ही क्षपकका लक्ष्य रहता है और आत्माके ध्यानमें ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखनाको साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्थामें पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखनाके दो भेदः—

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरहकी होती है:—(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और (२) अविचार-भक्तप्रत्याख्यान। सविचार-भक्तप्रत्याख्यानमें आराधक अपने संघको छोड़कर दूसरे संघमें जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होनेकी हालतमें ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखनाका धारी 'अर्ह' आदि अधिकारोंके विचारपूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधककी आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघमें जानेका समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :—१. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परम-निरुद्ध।

१. निरुद्ध—दूसरे संघमें जानेकी पैरोंमें सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आजायें और अपने संघमें ही रुक

१. आ नेमिचन्द्र, गो० क० गा० ६१।

आय तो उस हालतमें मुनि इस समाधिमरणको ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकारकी है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोकमें जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषों आदिके द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आजानेपर आयुका अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिकके समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादिके भीषण उपद्रवोंके आनेपर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समयमें मनमें ही अरहन्तादि पंच-परमेष्ठियोंके प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरणकी अपेक्षा समाधिमरणकी श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्यने सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके उनमें विशिष्ट पाँच[1] तरहके मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन[2] मरण ये हैं :—१. पण्डितपण्डितमरण, २. पण्डित-मरण और ३. बालपण्डितमरण।

उक्त मरणोंको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है[3] कि चउदहवें गुणस्थान-वर्ती अयोगकेवली भगवानका निर्वाण-गमन 'पण्डितपण्डितमरण' है,

---

१. पंडिदपंडिद-मरणं पंडिदयं बाल-पंडिदं चेव।
बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥ —भ० आ. गा. २६।

२. पंडिदपंडिद-मरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ —भ. आ. गा. २७

३. पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण॥

आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्रके धारक साधु-मुनियोंका मरण 'पण्डितमरण' है, देशव्रती श्रावकका मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टिका मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टिका मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणोंका कथन किया गया है वह सब पण्डितमरणका कथन है। अर्थात् वे पण्डित-मरणके भेद हैं।

समाधिमरणके कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकोंकी प्रशंसा :

शिवार्यने इस सल्लेखनाके करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करने-वालोंको पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं[1] :—

'वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघके मध्यमें जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताकाको फहराया है।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्हींने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधनाको संसारमें महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर

पाओपगमण-मरणं भत्तप्पण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स ॥

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पचमए बालबालम्मि ॥ —भ. आ. २८, २९, ३०।

१ ते सूरा भयवंता आइच्चइऊण संघ-मज्झम्मि।
आराधणा पडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि संपुण्णा ॥

किं णाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥

पाते, उस आराधनाको जिन्होंने पूर्णरूपसे प्राप्त किया, उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्तिके साथ क्षपककी आराधना कराते हैं।'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपककी आराधनामें उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादिके दानद्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओंको निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्धपदको प्राप्त होते हैं।'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैलको छुटानेवाले क्षपकरूपी तीर्थमें सम्पूर्ण भक्ति और आदरके साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपकके दर्शन, वन्दन और पूजनमें प्रवृत्त होते हैं।'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनोंसे सेवित होनेसे 'तीर्थ' कहे जाते हैं और उनकी समक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणकी राशि क्षपक 'तीर्थ' क्यों नहीं कहा जावेगा ? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शनका भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दनाका होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालोंको पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपककी वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुषको प्रचुर पुण्यका संचय क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।'

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ।।

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्धा सयला आराधणा तस्स ।।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्म-मल-हरणे ।
ण्हायंति खवय-तित्थे सव्वादर-भत्ति-संजुत्ता ।।

गिरि-णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ।।

पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।

'जो तीव्र भक्तिसहित आराधककी सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुषकी भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गतिको प्राप्त होता है।'

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है :

अन्तमें यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखनाको आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योंकि आत्म-घात तीव्र क्रोधादिके आवेशमें आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओंसे किया जाता है, जब कि इन क्रियाओंका और क्रोधादिकके आवेशका सल्लेखनामें अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सम्बन्धी सुयोजनाका एक अङ्ग है।

क्या जैनेतर दर्शनोंमें यह सल्लेखना है ?

यह सल्लेखना जैन दर्शनके सिवाय अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध नहीं होती। हाँ, योगसूत्र आदिमें ध्यानार्थक समाधिका विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्तःक्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियोंके प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कारसे है। वैदिक साहित्यमें वर्णित सोलह संस्कारोंमें एक 'अन्त्येष्टि-संस्कार' आता है[1], जिसे ऐहिक जीवनके अन्तिम अध्यायकी समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-संस्कार' है। तथा इस संस्कारका अन्तःक्रियाके साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिकों अथवा सामान्य लोगोंका किया जाता है,

---

खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ॥
—भ० आ० गा० १९९७-२००५।

१,२ डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० २९६।

सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओंका नहीं, क्योंकि उनका परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती[१]। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है[२]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्ममें अन्त्येष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें मृत व्यक्तिके विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओंके लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। इमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्षके लिए इच्छाका बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति पानेके लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती[३]। पर जैन-सल्लेखनामें पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्तिकी भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओंकी उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकारने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात् चौर-व्याघ्रादिसे भयभीत व्यक्तिके लिए भी संन्यासका विधान करनेवाले कतिपय मतोंका उल्लेख किया है[४]। उनमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर

---

१. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३।

२. हिन्दूसस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

३ हिन्दूसस्कार पृ० ३४६।

४. सन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा सन्यसेच्च गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दु खितः॥
उत्पन्ने सकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि-गोचरे।
भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत्॥
यत्किञ्चिद्बाधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया।
प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्तत्संत्यक्तवानहम्॥
एव संत्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम्।
पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाह वाक्कायमानसैः॥
करिष्ये प्राणिनां हिंसा प्राणिनः सन्तु निर्भयाः।
—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोषसे बुरा कर्म किया उसे मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवोंको अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा।' किन्तु यह कथन संन्यासीके मरणान्त समयके विधि-विधानको नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञाका दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यासका वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन-सल्लेखनाका अर्थ है। संन्यासका अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—संन्यासनामक चतुर्थ आश्रमका स्वीकार है और सल्लेखनाका अर्थ अन्त (मरण) समयमें होनेवाली क्रिया-विशेष[1] (कषाय एवं कायका कृशीकरण करते हुए आत्माको कुमरणसे बचाना तथा आचरित संयमादि आत्म-धर्मकी रक्षा करना) है। अतः सल्लेखना जैनदर्शनकी एक विशेष देन है, जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवनको उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनानेका लक्ष्य निहित है। इसमें रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होनेके कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक

---

१. वैदिक साहित्यमें यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदिके रूपमें मिलती है। जैसा कि माघके शिशुपालवधकी टीकामें उद्धृत निम्न पद्यसे जाना जाता है :

> अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः।
> भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधीयते॥

—शिशुपालवध ४-२३ की टीकामें उद्धृत।

किन्तु जैन संस्कृतिमें इस प्रकारकी क्रियाओंको मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढ़ता बतलाया गया है :—

> आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
> गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

—समन्तभद्र, रत्नकरण्ड० १-२२।

है। निष्कर्ष यह कि सल्लेखना आत्म सुधार एवं आत्म-संरक्षणका अन्तिम और विचारपूर्ण प्रयत्न है। ग्रन्थकार सकलकीर्तिने इस समाधिमरणोत्साह-दीपकम इसी विचारको प्रस्तुत किया है और इस दिशामें किया गया उनका प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
२०-१०-६३

दरबारीलाल कोठिया
(एम. ए, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य)
प्राध्यापक, जैनदर्शन-विभाग
संस्कृत महाविद्यालय।

विषय-सूची

श्रीमत्सकलकीर्तिविरचित

समाधिमरणोत्साहदीपक

मङ्गलाचरण

समाधिमरणादीनां फलं प्राप्तान् जिनादिकान् ।
समाधिमृत्यु-सिद्ध्यर्थं वन्दे पञ्च-महा-गुरून् ॥१॥

मैं समाधिमरणकी सिद्धिके लिए समाधिमरणादिके फलको प्राप्त, 'जिन' आदि संज्ञाके धारक श्रीपंचमहागुरुओंकी वन्दना करता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ - इस श्लोकके प्रथम चरणमें 'समाधिमरण' पदके साथ जो आदि पद दिया है, उससे यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंकी सूचना की गई है। समाधिमरण तथा दर्शनादि चार आराधनाओंके फलको जिन्होंने प्राप्त किया है वे वस्तुतः जिन आदि हैं और उन्हींको पंचमहागुरु अथवा पंचपरमेष्ठी कहा गया है। श्लोकके द्वितीय चरणमें 'जिन' पदके साथ जो आदि पद दिया है उसका अभिप्राय जिन अर्थात् अरहन्तके अतिरिक्त जो शेष चार (सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) परमेष्ठी और हैं, उनके ग्रहण करनेका है। इस 'आदि' पदसे सूचित अर्थको चतुर्थ चरणके अन्तमें दिये गये 'पंचमहागुरु' पद द्वारा ग्रन्थकारने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है।

समाधिमरण क्या वस्तु है और क्यों उसकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है:—मनमें उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावोंको मनसे दूर करके—मनको अत्यन्त शान्त या समाधानरूप करके—वीतराग भावोंके साथ सहर्ष प्राण-त्याग करने-

को समाधिमरण कहते हैं। यहा यह ज्ञातव्य है कि यह समाधिमरण जीवनके जिस किसी समयमें नहीं, अपितु अवस्था-विशेषमें ही किया जाता है। इसके लिए बतलाया गया है कि जब ज्ञानी व्रती पुरुष यह अनुभव करे कि मेरी इन्द्रियाँ जीर्ण हो गई है, शरीर थक रहा है, बुढ़ापा चरम सीमाको प्राप्त हो गया है और इस अवस्थामें मेरा धर्म-साधन बराबर नही हो रहा है, तब उस अवस्थामें आचार्यों ने समाधिमरणका विधान किया है। यह समाधिमरणका उत्सर्ग मार्ग है। इसके अतिरिक्त समाधिमरणके अनेक अपवाद मार्ग भी हैं। जैसे अभी व्रतीकी युवावस्था ही है, पर किसी रोगने शरीरको जर्जरित कर दिया और वैद्योंने भी जवाब दे दिया कि अब इसका नीरोग होना असंभव है, तब युवावस्थामें भी समाधिमरण के करनेका विधान किया गया है। इसी प्रकार किसी महान् उपसर्गके, दुर्भिक्ष के, विप्लवके, या इसी प्रकारके अन्य किसी उत्पात आदिके आजानेपर भी जब ज्ञानी-व्रती यह अनुभव करे कि इस अवस्थामें मेरा धर्म-साधन अशक्य है, तब इन्द्रियादिके सशक्त होते हुए भी, वह अपने धर्मकी रक्षाके लिए समाधि-पूर्वक प्राणोंका त्याग करे, ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। समाधिमरणका उद्देश्य आत्म-धर्मकी रक्षा करना है। जीवन-पर्यन्त जिस आत्म-धर्मकी आराधना की उसे अपने प्राणोसे भी बढ़कर समझा, अब जब उसीपर आपत्ति आ रही है और उसका प्रतीकार अशक्य है, तब यही आत्म-धर्मकी रक्षा है कि सहर्ष अपने शरीर का परित्याग कर दिया जाय ॥१॥

ग्रन्थ-निर्माणका उद्देश्य तथा ग्रन्थ-प्रतिज्ञा

अथ स्वान्योपकाराय वक्ष्ये संन्यास-सिद्धये ।
समाधिमरणोत्साहदीपकं ग्रन्थमुत्तमम् ॥२॥

मैं स्व और परके उपकारके लिए तथा संन्यासकी सिद्धिके लिए 'समाधिमरणोत्साहदीपक' इस नामवाले उत्तम ग्रन्थको कहूँगा ॥२॥

विशेषार्थ—संन्यास, सल्लेखना, सन्मृत्यु आदि नाम समाधिमरणके ही पर्याय-वाची है। आहार-विहारादिको छोड़कर एक स्थानपर अवस्थित होनेको संन्यसा

कहते है। शरीर और कषायोके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। संक्लेश रहित मृत्युको सन्मृत्यु या समाधिमरण कहते है। वस्तुतः ये सभी नाम एक ही कार्य की पूर्वोत्तर-काल-भावी क्रियाओंको प्रकट करने वाले हैं ॥२॥

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते स्वर्ग-मोक्षादिसिद्धये [सिद्धिदे] ।
समाधिमरणं यत्नात् साधयन्तु शिवार्थिनः ॥ ३ ॥

स्वर्ग और मोक्ष आदिकी सिद्धिके लिये मृत्युरूपी कल्पवृक्षके प्राप्त होनेपर आत्म-कल्याणके इच्छुक जनोंको यत्नपूर्वक समाधिमरण की साधना करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कल्पवृक्षसे किसी भी इष्ट वस्तुकी याचना की जाती है, वह उसे प्रदान कर याचकके मनोरथको पूर्ण करता है, उसी प्रकार विधिवत् किया गया समाधिमरण भी सभी समीहित लौकिक एवं पारलौकिक फलोंको देता है। दूसरे शब्दोमे यह कहना चाहिये कि संसारके जितने भी अभ्युदय—सुख है उन्हें भी देता है और परमनिश्रेयसरूप मोक्ष-सुखको भी वह देता है। श्लोकके द्वितीय चरणमे जो मोक्षपदके साथ आदि पद दिया है, वह चक्रवर्ती, तीर्थंकरादि पदोंकी सिद्धिका सूचक है। इन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र, राजेन्द्र, कामदेव आदि के सुखोको अभ्युदय-सुख कहते है और परमनिराकुलतारूप शिव-सुखको निश्रेयस-सुख कहते है। ये दोनो ही प्रकारके सुख समाधिमरणसे प्राप्त होते है, इसलिए उसे कल्पवृक्षकी उपमा दी गई है ॥३॥

यतः सन्मृत्युमात्रेण लभ्यन्ते हेलया बुधैः ।
सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त-सम्पदो वा शिवश्रियः ॥ ४ ॥

यतः ज्ञानीजन केवल समाधिमरणके द्वारा लीलामात्रसे सर्वार्थ-सिद्धि तककी सांसारिक सम्पदाओंको और मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करते हैं (अतः उसकी प्राप्तिके लिए निरन्तर यत्न करना चाहिये) ॥४॥

विशेषार्थ—श्लोकके तृतीय चरण-द्वारा जिन सम्पदाओंकी सूचना की गई है, वे इस प्रकार हैं—उत्तम कुल, महान् पुरुषार्थ, तेजस्विता आदिका पाना मनुष्य

भवका सुख है। राजा, अधिराज, महाराज, माण्डलिक, महामाण्डलिक-अर्धचक्री, चक्री और तीर्थंकर पदका प्राप्त करना मनुष्य-भवकी उत्तरोत्तर सम्पदाएं हैं। देव चार जातिके होते है—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी। कल्पवासी देव भी दो प्रकारके होते है—कल्पापपन्न और कल्पातीत। १६ स्वर्गोंके देवोंको कल्पोपपन्न कहते है और उनसे ऊपरके नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवोंको कल्पातीत कहते है। इन कल्पातीत विमानोमें सर्वार्थसिद्धि सर्वोत्कृष्ट विमान है। इस विमानमें रहनेवाले देवोंको सर्वोत्कृष्ट स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है। ग्रन्थकारने सर्वार्थसिद्धि तककी समस्त सम्पदाओंकी तथा मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका एकमात्र कारण समाधिमरण बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो जीव जीवन-पर्यन्त उग्र तपश्चरणादि करता है, परन्तु देह-परित्यागके समय यदि उसका मरण समाधिपूर्वक नही हो रहा है अर्थात् संक्लेशपूर्वक प्राण-त्याग कर रहा है, तो वह तपश्चरणादिके अभीष्ट फलको नही पाता है। किन्तु जो मरणके समय सावधानी रखता है और चित्तकी समाधिके साथ प्राणोंका परित्याग करता है, वह क्षणमात्रमें ही पूर्वोक्त सासारिक सुख-सम्पदाओंका और मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है ॥४॥

मृत्यु-चिन्तामणौ पुण्यादायाते यैः प्रमादिभिः ।
आत्मार्थः साधितो नाहो तेषां स्युः जन्मकोटयः ॥ ५ ॥

अहो! पुण्यसे मृत्युरूप चिन्तामणि-रत्नके प्राप्त होनेपर भी जो प्रमादी जन अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं करते हैं, वे कोटि जन्मों तक संसारमें परिभ्रमण करते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति अत्यन्त पुण्यके उदयसे होती है, उसी प्रकार मनुष्यके सावधान रहते हुए यदि मरणका अवसर आ जाय, तो वह भी महान् पुण्यका उदय समझना चाहिये। अन्यथा जिनके पापका उदय होता है, उनकी मृत्यु सुप्त, मूर्च्छित, रुग्ण आदि दशामें होती है, जिससे वे अपने परिणामोंकी संभाल नहीं रख पाते है और इसी कारण दुर्गतियोंमें उनका जन्म होता है। इसका कारण यह है कि शास्त्रोंमे कहा गया है कि— 'जल्लेस्से

मरइ, तल्लेस्से उप्पज्जइ" जो जीव जैसी शुभ या अशुभ लेश्यामें मरेगा, वैसी ही शुभ-अशुभ लेश्या वाली गतिमें उत्पन्न होगा। इस आगम-नियमके अनुसार सुप्त, मूच्छित आदि दशामें या रोगादिसे पीड़ित-अवस्थामें जब अशुभ लेश्या होगी तो वह मर कर नरक-तिर्यंचादि खोटी ही गतिमें उत्पन्न होगा। किन्तु जो व्यक्ति चित्तकी समाधिपूर्वक पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपने प्राणोंका त्याग करता है, उसके यतः मरण-समय शुभ लेश्या है, अतः वह तदनुसार स्वर्गादि-की उत्तम गतिको ही प्राप्त करता है। इस भावको व्यक्त करनेके लिए ही ग्रन्थकारने समाधिमरणको चिन्तामणि रत्नकी उपमा दी और उसे **'पुण्यादायात'** कहा। श्लोकके तृतीय चरणमे जो **'आत्मार्थ'** पद दिया है उसका अभिप्राय आत्माके अभीष्ट अर्थसे है। आत्माका अभीष्ट अर्थ निराकुलतारूप परम सुख-को पाना है। अनादि कालसे लेकर आज तक जीवने संसारके क्षणिक एवं व्याकुलतामय इन्द्रिय-सुख तो अनन्त बार प्राप्त किये। परन्तु निराकुलतारूप अविनाशी स्थायी आत्मिक सुख एक बार भी प्राप्त नही किया है। जो जीव मृत्यु-रूप चिन्तामणिके हस्तगत होनेपर भी अपने उस अभीष्ट आत्मार्थको सिद्ध नहीं करते है वे वस्तुतः अभागे है और इसी कारण चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करते रहेंगे ॥५॥

येन सन्मृत्युना पुंसां जीर्ण-देहादयोऽखिलाः।
जायन्ते नूतनाः शीघ्रं निधिवत्संमुदे न कौ ॥ ६ ॥

जिस सन्मृत्युके द्वारा पुरुषोंके जीर्ण-शीर्ण शरीर और इन्द्रियादि समस्त अंगोपांग शीघ्र नवीन हो जाते हैं, वह सन्मृत्यु निधिके समान पृथ्वीपर क्या हर्षके लिए नहीं है? अवश्य है ॥६॥

विशेषार्थ—निधि नाम निधान या भाण्डारका है। जिस प्रकार किसी दरिद्र पुरुषको किसी रत्न-भाण्डारके प्राप्त हो जानेपर उसके हर्षका पारावार नहीं रहता है और वह उसके द्वारा जीर्ण-शीर्ण घरके स्थानपर नवीन भवनका निर्माण कर लेता है एवं सभी मनोवांछित नवीन पदार्थोंको पा लेता है। उसी प्रकार सन्मृत्युके द्वारा भी मनुष्य जीर्ण-शीर्ण देहका परित्याग कर बल-वीर्य-सम्पन्न

उत्तम नवीन शरीरको प्राप्त करना है। अतएव ग्रन्थकारने सन्मृत्युको निधि-की उपमा दी है। और उसके द्वारा मनुष्योको यह सूचना दी है कि मृत्यु का अवसर प्राप्त होनेपर विषाद नहीं, अपितु महान् हर्ष मानना चाहिए। यहाँ यह आशंका करना व्यर्थ है कि जीर्ण-देहादिक तो अपमृत्युसे भी नवीन हो जाते हैं, फिर सन्मृत्युकी क्या विशेषता रही, क्योंकि अपमृत्युसे शरीर नवीन भले ही मिले, पर वह भव्य एवं दिव्य नहीं मिलेगा, प्रत्युत वर्तमान देहसे भी गया-बीता एवं बल-वीर्य-हीन मिलेगा। इसलिए सन्मृत्युमे मिलनेवाले दिव्य देहकी अपमृत्युसे मिलनेवाले नवीन हीन देहके साथ कभी समानता नही हो सकती ॥६॥

मत्तपोव्रतयोगाढ्यः त्रिजगत्सुखसम्पदः ।
मतां दातुं क्षमो येन (यो हि) स मृत्युः किं न शम्यते ॥७॥

उत्तम तप, व्रत और योगसे युक्त जो मृत्यु सज्जनोंके लिए तीन जगतकी सुख-सम्पदा देनेको समर्थ है, वह मृत्यु क्या प्रशंसनीय नहीं है? अवश्य ही प्रशंसाके योग्य है ॥७॥

विशेषार्थ—हिंसादि पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। शरीरके कृश करने एवं इच्छाओंके निरोध करनेको तप कहते हैं और मनकी एकाग्रताको योग कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शनके साथ होनेपर सद्-व्रत, सत्तप और सद्-योग कहलाते है। ग्रन्थकार कहते है कि यदि कोई मनुष्य जीवन भर व्रत, तप और योगको धारण करे और अन्तिम समयमे यदि वह अपमृत्युसे मरे, तो वह किसी भी सुख-सम्पदा को नहीं पाता है। किन्तु जब वही व्रत, तप और योगवाला मनुष्य समाधिमरण-से प्राणोंका त्याग करता है, तो उसे त्रिजगत्की सभी सुख-सम्पदाएं प्राप्त होती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि सन्मृत्युके बिना जीवन भर धारण किये हुए व्रत, तप और योग बेकार है, निरर्थक है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह सदा समाधिमरणके लिए प्रयत्नशील रहे ॥७॥

ननु घोरतपोयोगव्रताद्यान् स्वेष्टभूतिदान् ।
मन्येऽहं सफलाँस्तेषां यैः कृतं मरणोत्तमम् ॥८॥

मैं उन्हीं पुरुषोंके घोर तप, योग और व्रतादिको इष्ट फलदायक और सफल मानता हूँ जिन्होंने उत्तम समाधिमरण किया है ॥८॥

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें बतलाये गये अर्थको ही स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि **'अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते'** अर्थात् अन्तिम समय समाधिपूर्वक मरण होना ही जीवन भरके व्रत, तप और योगादिका फल है, अतएव उन ही पुरुषोका जीवन सफल है, जिन्होंने कि समाधिपूर्वक अपने प्राणोंका परित्याग किया है और ऐसे ही पुरुषोंके घोर तप, व्रत और योगादिक अभीष्ट फलको देते है। जिस जीवका मरण समाधिपूर्वक न होकर संक्लेशपूर्वक दुर्ध्यानसे होता है, उसके जीवन भर किये हुए तपश्चरणादिकोंपर पानी फिर जाता है और इसी कारण वे कोई भी अभीष्ट फल देनेमें समर्थ नही रहते है ॥८॥

यतः श्रीसुकुमालस्वाम्यादयो द्वि-त्रिभिर्दिनैः ।
गताः सर्वार्थसिद्ध्यादीन् महामरणसाधनात् ॥९॥

इस महान् समाधिमरणके साधन करनेसे श्री सुकुमालस्वामी आदि अनेक महापुरुष दो-तीन दिनकी तपस्याके द्वारा ही सर्वार्थसिद्धि आदिको प्राप्त हुए ॥९॥

विशेषार्थ—श्री सुकुमालस्वामी गृहस्थावस्थामें इतने सुकुमार थे कि उनकी माता दृष्टिदोषके परिहारार्थ उनके आसनपर सरसो क्षेपण कर देती थी, तो वे भी उनको चुभा करते थे और आसनपर स्थिर होकर नही बैठ सकते थे। किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरी आयु केवल तीन दिन की ही शेष रह गई है, तो सहसा तपोवनमें गुरुके समीप जाकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करनेके अनन्तर जैसे ही वे ध्यानस्थ हुए, वैसे ही एक श्यालनीने अपने बच्चोके साथ आकर उनके पैरोंको खाना प्रारम्भ कर दिया। सुकुमालस्वामीने इस उपसर्गके आते ही प्रायोपगमन संन्यास ले लिया और प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक यह उपसर्ग दूर नही होगा, मेरे अन्न-जलका त्याग है और मैं अपने इस आसन से भी चल-विचल नहीं होऊँगा।" तीन दिन तक वह श्यालनी और उसके बच्चे

सुकुमालस्वामीको पैरोंसे लगाकर बराबर ऊपरकी ओर खाते गये। आखिर तीसरे दिन समाधिपूर्वक उन्होंने प्राणोंका त्याग किया और सर्वार्थसिद्धि नामक सर्वोत्कृष्ट कल्पातीत अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुए। यह वह स्थान है, जहाँ से च्युत होकर जीव एक ही भवको धारण कर संसारसे पार होकर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार श्रीकृष्णके सुपुत्र गजकुमार अतिसुकुमार राजकुमार थे। भ० नेमिनाथके समवसरणमें धर्मोपदेश सुननेके लिए सभी यदुवंशी जा रहे थे, श्रीकृष्णके साथ गजकुमार भी थे। मार्गमें एक ब्राह्मणकी नवयौवना, सर्वगुणसम्पन्ना सुलक्षणा सौन्दर्यमूर्ति पुत्रीको देखकर श्रीकृष्णने उसे अपने गजकुमारके लिए उसके पितासे मंगनी की और उसे अन्तःपुरमें भिजवा दिया। श्रीकृष्णने सपरिवार जाकर भ० नेमिनाथका उपदेश सुना। श्रीकृष्ण तो वापिस द्वारकाको लौट आये, पर गजकुमार नहीं लौटे। भगवानके उपदेशका उनके चित्तपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा, कि वे तत्काल दीक्षित होकर एकान्त स्थानपर ध्यानारूढ़ हो गये। जिस लड़कीकी मगनी गजकुमारके लिए की गई थी, उसका पिता वह ब्राह्मण जंगलसे समधिओ (यज्ञमें जलाई जानेवाली लकड़ियो) को लेकर लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसी ही गजकुमारपर गई कि वह आग-बबूला हो गया और दुर्वचन कहते हुए बोला—"रे दुष्ट, मेरी सुकुमारी प्यारी पुत्रीको विधवा करके तू साधु बन गया है, मैं देखता हूँ, तेरी साधुता को।" ऐसा कहकर उसने लकड़ियोंमे आग लगाई। उधर तालावके पासकी गीली मिट्टी लेकर उससे गजकुमारके तत्काल केशलुंचित मुण्डित शिरपर पाल बाँध कर उसके भीतर धधकते हुए अंगार भर दिये। गजकुमारका शिर बैंगनके भुर्तेके समान खिल गया, कपाल फट गया। पर गजकुमारने तो इस उपसर्गके प्रारम्भ होते ही अन्न-जलका परित्याग कर समाधिमरण अंगीकार कर लिया था। वे वैसी तीव्र अग्नि-ज्वालाकी पीड़ा सहनकर अन्तःकृतकेवली होकर सर्वोत्तम पंडित-पंडितमरण करके परमधाम—मोक्षको प्राप्त हुए। इस प्रकार जिस महान् फलको अन्य मुनिजन सैकड़ों वर्षों तक दुर्द्धर तपश्चरण करके प्राप्त करते है, उस महान फलको सुकुमाल, गजकुमार आदि महामुनियोंने एक-दो

दिन ही कठिन साधना करके प्राणान्तक कष्ट होनेपर भी रंचमात्र संक्लेश न कर सहर्ष समाधिपूर्वक प्राणोका परित्याग कर प्राप्त किया। यह सब सन्मृत्युका फल है ॥९॥

धीरत्वेन सतां मृत्युः कातरत्वेन चेद् भवेत् ।
कातरत्वं बलात्त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥१०॥

यदि मृत्यु धीरतासे भी प्राप्त होती है और कातरता (दीनता) से भी प्राप्त होती है, तो कातरताको साहसके साथ छोड़कर धीरतापूर्वक ही मरण करना श्रेष्ठ है; क्योंकि सन्तजन धैर्यके साथ ही मृत्युका आलिंगन करते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—मनुष्यकी आयु निश्चित है और जब वह पूर्ण हो जाती है, तब उसे मौतसे इन्द्र, अहमिन्द्र, मणि, मंत्र, तंत्र आदि कोई भी नही बचा सकता है। अत: मौतके आनेपर जो कोई उससे भयभीत होता है, कायर बनकर रोता है और मौतसे बचनेके लिए कभी इसकी और कभी उसकी शरणमें जाता है, वह बच तो सकता नही, मरना तो अवश्य पड़ता है, किन्तु हाय-हाय करके महा पापका उपार्जन और कर लेता है, जिससे कि उसे भव-भवमें पुन: मरणके दारुणष दु:खोंको भोगना पड़ता है। परन्तु जो शूरवीर पुरुषके संग्राममें जूझनेके समान मौतका मुकाबिला धीर-वीर होकर करते हैं, वे जन्म-जन्मके संचित पापोको क्षणमात्रमें भस्म करते हुए अजर-अमर बन जाते है और सदाके लिए मरणके दारुण दु:खोंसे छुटकारा पा जाते है। इसलिए ग्रंथकार मरणसे भयभीत होनेवाले लोगोंको सम्बोधन करते हुए कह रहे है कि कायर होकर मरनेकी अपेक्षा धीर-वीर बनकर मरना लाखो गुना अच्छा है ॥१०॥

मरणं बालबालाख्यं निन्द्यं बालाह्वयं ततः ।
बालपण्डितनामाद्यं त्रिविधं पण्डिताभिधम् ॥११॥
द्विरुक्तं पण्डितं चैते सप्त भेदा मता मृतेः ।
दुर्दशां बालबालं कुमरणं स्यात्कुजन्मदम् ॥१२॥

मरणके सात भेद आगममें बतलाये गये हैं—बालबालमरण, बालमरण, बालपण्डितमरण, तीन प्रकारका पण्डितमरण (भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन) तथा पण्डितपण्डितमरण। इनमें से बालबाल नामका कुमरण निन्द्य माना गया है,—क्योंकि वह मिथ्यादृष्टियोंके होता है और अनेक खोटे जन्मोंका देनेवाला है ॥११,१ ॥

विशेषार्थ—यहाँ पर जो बालबाल आदि सात प्रकारके मरण बतलाये गये हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—बालनाम छोटेका है, और वे पाँच प्रकारके होते हैं—(१) अव्यक्तबाल, (२) व्यवहारबाल, (३) दर्शनबाल, (४) ज्ञानबाल और (५) चारित्रबाल। जिसका शरीर धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थोंके करनेमें असमर्थ हो, उसे अव्यक्तबाल कहते है। जो लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहारको नहीं जाने तथा अल्प-अवस्था का धारक हो ऐसे बालकको व्यवहारबाल कहते हैं। स्व-परके तत्त्व-श्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवको दर्शनबाल कहते है। भेद-विज्ञान या सम्यग्ज्ञानसे रहित मिथ्याज्ञानी जीवको ज्ञानबाल कहते हैं। सम्यक्चारित्रसे रहित अव्रती जीवको चारित्रबाल कहते है। यहाँ ग्रन्थकारने मिथ्यादृष्टि जीवको बालबाल कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण दर्शनबाल भी है और सम्यकचारित्रसे रहित होनेके कारण चारित्रबाल भी है। जो दर्शनबाल होता है वह ज्ञानबाल तो होता ही है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबाल मरण कहा गया है। जो सम्यग्दर्शनसे युक्त तो है, परन्तु जिसके सम्यक्चारित्र नहीं है, ऐसे अव्रतसम्यग्दृष्टि जीवके मरणको बालमरण कहते है। देशव्रतोंके धारक श्रावकोंको बाल-पंडित कहा गया है। इसका कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा बाल नहीं है, पंडित है, किन्तु उनका चारित्र तो अभी बाल ही है अर्थात् अणुव्रतरूप होनेसे अल्प ही है। ऐसे बालपंडित श्रावकोंके मरणको बालपंडित मरण कहते हैं। साधु लोग दर्शनकी अपेक्षा भी बाल नहीं है और चारित्रकी अपेक्षा भी बाल नहीं है, अतएव उन्हे पण्डित कहा गया है। उनके समाधिमरण को पंडितमरण कहते हैं। समाधिमरणके तीन भेद आगे ग्रन्थ-कारने स्वयं बतलाये हैं उनकी अपेक्षा पंडितमरणके भी तीन भेद हो जाते

हैं। केवली भगवानको पंडित-पंडित कहते है; क्योंकि उनके सर्वोत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व भी है और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र भी है, अतः उनके शरीरत्याग को पंडित-पंडितमरण कहते हैं ॥११,१२॥

सद्‌दृष्टीनां च बालाख्यं ह्यसंयतात्मनां मतम् ।
बालपण्डितसंज्ञं श्रावकाणां दृग्व्रतात्मनाम् ॥१३॥

असंयतसम्यग्दृष्टियोंके मरणको बालमरण और सम्यग्दर्शनसहित देशव्रतधारी श्रावकोंके मरणको बालपण्डितमरण कहते हैं ॥१३॥

इंगिन्याख्यं च पादो[प्रायो]पगमनं मरणं परम् ।
मुनीनां भक्तप्रत्याख्यानं चेति पण्डितं त्रिधा ॥१४॥

पण्डितमरणके तीन भेद हैं—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन मरण। यह तीनों प्रकारका पंडितमरण मकलचारित्रके धारक मुनियोंके होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—चारो प्रकारके आहारका क्रमशः त्याग कर प्राण-विसर्जन करनेको भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हे। इस मरणको अंगीकार करनेवाला साधु स्वयं भी अपने शरीरकी सेवा-टहल करता है और दूसरोंके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्यको भी स्वीकार करता है। इंगिनी मरण वाला साधु स्वयं तो अपने शरीरकी वैयावृत्य करता है, परन्तु दूसरेके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्य-का स्वीकार नही करता। प्रायोपगमन मरण वाला न तो स्वयं ही अपनी वैया-वृत्य करता है और न दूसरेके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्यको ही अंगीकार करता है। किन्तु प्रतिमाके समान अचल आसनसे अवस्थित रह कर ही गमनागमनादि सर्व क्रियाओंका परित्याग कर प्राणोंका विसर्जन करता है ॥१४॥

केवलज्ञानिनां पण्डितपण्डिताह्वयं महत् ।
शुभाशुभानि सप्तेति मरणान्युक्तानि चागमे ॥१५॥

केवलज्ञानियोंके प्राण-विसर्जनको पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस प्रकार आगममें ये सात प्रकारके शुभ और अशुभ मरण कहे गये हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—ऊपर जो सात प्रकारके मरण कहे गये हैं, उनके शुभा-शुभ रूपसे विभाजन की सूचना ग्रन्थकारने यहाँ की है, पर स्वयं कोई विभाजन नहीं किया है। पर भगवतीआराधनाकारने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही गाथाङ्क २७ के द्वारा उनमेंसे पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण इन तीन मरणोंकी ही प्रशंसा की है। यथा—

> पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
> एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ।।

चूँकि पंडितमरणके भक्तप्रत्याख्यानादि तीन भेद किये गये हैं। अतः तीन प्रकारका पंडितमरण, पंडितपंडितमरण और बालपंडितमरण इस प्रकार उन्हीं तीनके पाँच भेद भी हो जाते है। इन पाँचो मरणोंको शुभ जानना चाहिए। अवशिष्ट रहे हुए बालमरण और बालबालमरण अशुभ है, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। जो पाँच शुभ मरण बतलाये गये हैं, उनमें भी उत्तम, मध्यम और जघन्यका भेद है। पंडितपंडितमरण इनमें सर्वोत्तम शुभ मरण है। तीनो प्रकारके पंडितमरण मध्यम शुभ मरण है। इनमेसे प्रायोपगमन मरणसे मरने वाला पंच अनुत्तर विमानोमे, इंगिनीसे मरने वाला नव ग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानोमें और भक्तप्रत्याख्यानसे मरने वाला यथासंभव सोलह स्वर्गोमें उत्पन्न होता है। बालपंडितमरण जघन्य शुभ मरण है। इससे मरनेवाला श्रावक यथायोग्य स्वर्गमे उत्पन्न होता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा अव्रतसम्यग्दृष्टि तो उत्तम है। उसे जघन्य पात्र भी आगममें कहा गया है, फिर उसके मरणको शुभ मरण क्यो नही बतलाया गया ? इसका समाधान यह है कि बद्धायुष्क अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव नरकादि खोटी गतियोंमे भी उत्पन्न होते हुए देखे जाते है, और नरकादिकी अशुभ गतिमे गणना की गई है, इसलिए नरकादिमे उत्पन्न होने वाले जीवके मरणको शुभ मरण कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार यह अर्थ फलित हुआ कि ऊपर बतलाये गये सात मरणोमेसे बालबाल और बालमरण तो अशुभ हैं और शेष पाँच मरण शुभ है ।।१५।।

> **सम्यग्मृत्यूनमून् ज्ञात्वा सर्वत्यनेन धीधनाः।**
> **मरणं पण्डिताभिख्यं साधयन्तु शिवाप्तये ।।१६।।**

उत्तम मरणके इन उपर्युक्त भेदोंको जान करके बुद्धिमानोंको चाहिये कि वे सर्व प्रकारकी सावधानी-पूर्वक शिव-प्राप्तिके लिये पण्डितमरणको सिद्ध करें ॥१६॥

विशेषार्थ—ऊपर जो पंडितमरणके तीन भेद बतलाये गये हैं उनमें सबसे पहले भक्तप्रत्याख्यान मरणको सिद्ध करना चाहिये। उसकी विधि यह है—समाधिमरणकी आराधनाका इच्छुक गृहस्थ या मुनि जब यह देखे कि मेरा मरण-काल समीप आता जा रहा है, तब वह स्वजन-परिजनोंसे मोह-ममताको तथा शत्रु आदिसे वैर-भावको छोड़कर सब लोगोंसे क्षमा-भाव माँगे और सबको क्षमा प्रदान करे। पुनः निश्छल भावके साथ अपने जीवनमें किये हुए सर्व पापोंकी आलोचना करके यदि वह गृहस्थ है, तो जीवन-पर्यन्तके लिए हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग कर महाव्रत धारण करे और यदि वह मुनि हो, तो अपने महाव्रतोंमें और भी शुद्धिको बढ़ावे। तदनन्तर खान-पानमेंसे पहले खाद्य-पदार्थोंके आहारको क्रमशः घटाना प्रारम्भ करे और स्निग्ध-पान—दूध आदिपर निर्भर रहनेका अभ्यास करे। पुनः स्निग्ध-पानको भी कम करके खर-पान—छांछ आदि पर निर्भर रहनेका अभ्यास करे। कुछ दिनों बाद छाछ आदिका पीना भी बन्द करके केवल उष्ण जल पीकर कुछ दिन बितावे। जब देखे कि मेरा बिलकुल ही अन्तिम समय आ गया है, तब जलके पीनेका त्याग करके सर्वथा निराहार रहकर जब तक जीवित रहे तब तक उपवास करता रहे। इस प्रकारसे आहारका क्रमशः त्यागकर निराहार रहते हुए प्राण-त्यागको भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्षका बतलाया गया है। इस भक्तप्रत्याख्यानके सिद्ध कर लेनेपर अर्थात् उपवास करना प्रारंभ करने पर वह क्षपक (समाधिमरण करने वाला व्यक्ति) शरीरके उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए भी दूसरेके द्वारा की जानेवाली सेवा-टहल आदि समस्त प्रकारकी वैयावृत्यका त्याग कर देता है और जितना अपनेसे बनता है, अपनी सेवा-टहल स्वयं करते हुए समाधिपूर्वक प्राण-त्याग करता है, तब उसे इंगिनीमरण नामका दूसरा पंडितमरण कहते हैं। जब क्षपक इस प्रकारके मरणको भी सिद्ध कर ले और देखे कि अभी मेरा जीवन

और कुछ शेष है, तथा शरीर, इन्द्रियादिक सशक्त हैं, तब वह दृढ़ संहननका धारी ज्ञानी क्षपक अपने द्वारा की जानेवाली सर्व प्रकारकी सेवा-टहलका भी परित्याग कर देता है और अपनी गमनागमनादि सारी शारीरिक क्रियाओंको तथा वचनालापादि वचन-क्रियाओंको भी त्यागकर मूर्तिके समान बैठकर या लेटकर प्रतिमायोगको धारण कर लेता है एवं शरीर छूटने तक उसी प्रकारसे अचल पड़े हुए आत्म-चिन्तन करता रहता है, न वह हाथ-पैर हिलाता है और न आंख आदि खोलकर किसीको देखता ही है। न वह किसीसे बोलता है और न किसीकी बात ही सुनता है। वह तो अपने आपमें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार प्रतिमाके समान स्थिर योगपूर्वक जो प्राण त्याग किये जाते है उसे प्रायोपगमन नामका पंडितमरण कहते है। इनमेसे आजके युगमे अन्तिम दोनो मरणोका सिद्ध करना संभव नही है, क्योकि उनके करनेका अधिकारी उत्तम संहननका धारी बतलाया गया है। अतः आजके युगमे भक्तप्रत्याख्यान नामका पंडितमरण ही सिद्ध करना चाहिए ॥१६॥

अब आगे ग्रन्थकार इस बातका निरूपण करते है कि कैसी अवस्थामें और क्यों समाधिमरण अंगीकार करना चाहिये—

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये।
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यये ॥१७॥
धर्मध्यान-तनूत्सर्गहीयमानादिके सति।
संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये ॥१८॥

इन्द्रियोंकी शक्ति मन्द हो जानेपर, अतिवृद्धपना आजानेपर, उपसर्ग आनेपर, व्रतका क्षय होनेपर, देशव्यापी महान् दुर्भिक्ष पड़ने पर असाध्य तीव्र रोगके आनेपर, शारीरिक बलके क्षीण होनेपर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करनेकी शक्ति उत्तरोत्तर हीन होनेपर बुद्धिमानोंको चाहिए कि आत्म-कल्याणके लिए संन्यास विधिसे मृत्युको सिद्ध करें— सल्लेखना-विधिसे समाधिमरण अङ्गीकार करें।

भावार्थ—उक्त कारणोंमेंसे किसी भी कारणके मिलनेपर संन्यासको ग्रहण कर लेना चाहिए ।।१७,१८।।

विशेषार्थ—श्लोक नं० १६के विशेषार्थमें बतलाये गये इस प्रकारके भक्त-प्रत्याख्यानमरणको अंगीकार कर सहर्ष मृत्युके आवाहन एवं आलिंगनको ही सन्मृत्युकी सिद्धि कहते हैं। श्लोक नं० १८ में 'हीयमान' पदके आगे जो आदि पद दिया है उससे कितने ही और अन्य कारणोंकी सूचना की गई है, जिनके कि उपस्थित होने पर आचार्योंने समाधिमरण करनेका विधान किया है। यथा—जलमें बह जाने पर, विकट अटवीमे भटक जाने और खोजनेपर भी मार्गके नही मिलनेपर, आकाश-मार्गसे यात्रा करते हुए विमान आदिके विध्वस्त होने आदिके अवसर पर, सहसा दृष्टिके चले जानेपर, बहरे हो जानेपर और विहार करनेकी शक्ति नही रहनेपर व्रती गृहस्थ और मुनिको समाधिमरण अंगीकार कर लेना चाहिए ।।१७-१८।।

सर्पदष्टोपसर्गादौ स्व(स)सन्देहे समागते ।
मरणेऽनशनं ग्राह्यं द्विधेदं मुक्तये बुधैः ।।१९।।
एतस्मिन्नुपसर्गादौ यदि मे प्राणनाशनम् ।
तर्ह्यस्त्वनशनं यावज्जीवं चतुर्विधं परम् ।।२०।।
कथञ्चिच्च स्वपुण्येन जीविष्याम्युपसर्गतः ।
ततोऽहं पारणं रूयातं करिष्ये धर्मसिद्धये ।।२१।।

सांपके द्वारा काटे जानेपर या उपसर्गादिके समय मरणमें सन्देह उपस्थित होनेपर बुद्धिमानोंको दो प्रकारका अनशन ग्रहण करना चाहिए। वह इस प्रकार करे कि यदि इस उपसर्गादिमें मेरे प्राणोंका नाश होता है, तो मेरे यावज्जीवनके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग है। यदि कदाचित् किसी प्रकारसे अपने पुण्य

के द्वारा इस उपसर्गसे जीवित बच जाऊंगा तो धर्म-साधनके लिए मैं आगम-विहित पारणाको[1] करूंगा ॥१९,२०,२१॥

इति संन्यासमादाय हृदि [सन्तः] उपद्रवे ।
नमस्कारादिसद्-ध्यानैस्तिष्ठन्तु निर्भयामृतम् ॥२२॥

इस प्रकार उपद्रवके आनेपर साधुजन आत्म-साक्षीपूर्वक हृदयमें संन्यासको धारणकर नमस्कार-मंत्र आदिके जप और ध्यानके साथ मरण होने तक निर्भय होकर रहें ॥२२॥

तदेदं मनसाऽऽधेयं तत्रोपसर्गाय सज्जनैः ।
यद्यहो जीवितव्यं नोऽत्रास्मात् घोरोपसर्गतः ॥२३॥
ततो यशो जगद्-व्यापि धर्मः क्षमादिभिर्महान् ।
मरणेऽमुत्र च नूनं प्राप्स्यन्ति विभूतयः ॥२४॥
इतीहामुत्र लाभोऽस्मान्मृत्युना जीवनेन वा ।
ततो भीतिः कुतो मृत्योरस्माकं धर्मभागिनाम् ॥२५॥

उस समय (संन्यास-कालमें) साधुजन मनमें यह विचार करें कि यदि इस घोर उपसर्गसे हमारा जीवन सुरक्षित रहता है, तो जगद्-व्यापी यश रहेगा और क्षमादिके धारण करनेसे महान् धर्म होगा। यदि कदाचित् मरण हो गया, तो परलोकमें निश्चयसे इन्द्रादिकी विभूतियां प्राप्त होंगी। इस प्रकार मृत्युसे या जीवनसे हमें इस लोक और परलोक दोनोंमें ही लाभ है। फिर धर्म-धारण करनेवाले हमारे लिए मृत्युसे भय क्यों होना चाहिए ? अपितु नहीं होना चाहिए ॥२३,२४,२५॥

१. अल्पकालके लिए अन्न-जलके त्यागके पश्चात् उनके ग्रहण करनेको पारणा कहते हैं।

निश्चित्येत्युपसर्गेऽति शिवश्री-साधनोद्यता ।
सुभटा इव तिष्ठन्तु रणे संन्यास-वर्मिताः ॥२६॥

उक्त प्रकारसे निश्चय कर शिवलक्ष्मीके साधन करनेमें उद्यत पुरुष उपसर्ग रूप रणमें संन्यासरूप कवचको धारण कर सुभटके समान धीर-वीर होकर ठहरें ॥२६॥

मरणं चागतं ज्ञात्वाऽवश्यं स्वस्य सुसाधवः ।
केनचित्स्वसुनिमित्तेन कुर्युस्तत्साधनोद्यमम् ॥ २७ ॥

किसी निमित्त-विशेषसे अपने मरणको समीप आया हुआ जानकर साधुजनोंको अवश्य ही समाधिमरणके साधनमें उद्यम करना चाहिए ॥२७॥

तदादौ स्वगणं संघं चतुर्विधं च वापरम् ।
बाल-वृद्धान् मुनीन् सर्वान् क्षमयित्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ २८ ॥
प्रियैर्मनोहरैर्वाक्यैस्त्रिशुद्धयाऽऽशं निहत्य च ।
राग-द्वेषादिकालुष्यान् कुर्यात्स्वच्छं मनो मुनिः ॥२९॥

समाधिमरणके लिए उद्यत साधु सबसे पहले अपने गणसे, चतुर्विध संघसे, अन्य जनोंसे तथा सर्व बाल-वृद्ध मुनियोंसे आत्म-शुद्धिके लिए प्रिय एवं मनोहर वचनोंद्वारा त्रियोग-शुद्धिपूर्वक क्षमा कराके अपनी समस्त आशाओं को तथा राग-द्वेषादि कलुषित भावों को दूर कर अपने मनको स्वच्छ करे ॥२८,२९॥

ततो नत्वा महाचार्यं सिद्धान्ताचारभूषितम् ।
निवेद्य स्वव्रतादीनां सर्वान् दोषान् कृतादिजान् ॥३०॥
त्रिशुद्धयाऽऽलोचनं कृत्वा दश-दोषोज्झितो यमी ।
यावज्जीवितमादाय व्रतं निःशल्यतां श्रयेत् ॥३१॥

तदनन्तर सिद्धान्तके ज्ञान और आचारसे विभूषित महान् निर्यापकाचार्यको नमस्कार करके और अपने व्रतोंके कृत, कारित और अनुमोदनादि-जनित सर्व दोषोंको मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक दश दोषोंसे रहित आलोचना करके जीवन-पर्यन्तके लिए व्रतको ग्रहण कर निःशल्यताको धारण करे ॥३०,३१॥

गृहस्थो वा विदित्वाऽऽशु मरणं स्वस्य संस्थितम् ।
बन्धु-मित्रारि-भृत्यादीन् क्षमयित्वा मनोहरैः ॥३२॥
वचोभिः स्वान्तरे क्षान्त्वा स्वयं सर्वत्र शुद्धये ।
सूरिं नत्वा स्वशुद्ध्यर्थं कुर्यादालोचनं मुदा ॥३३॥

अथवा कोई गृहस्थ हो और अपना मरण शीघ्र ही समीपमें आया हुआ जाने तो मनोहर वचनोंसे बन्धु, मित्र, शत्रु और नौकर-चाकरोंसे क्षमा मांगकर और स्वयं अपने हृदयमें क्षमा करके आत्म-शुद्धिके लिए सहर्ष अपनी आलोचना करे ॥३२,३३॥

तत्कर्तुं गुरुणा दत्त-प्रायश्चित्तं तपोऽक्षमा ।
धनिनो ये जिनागारे स्वयं सर्वत्र शुद्धये ॥३४॥
दद्युर्धनं स्वशक्त्या ते परे दोषादि-हानये ।
प्रायश्चित्तं तु कुर्वन्तु तपांस्यनशनादिभिः ॥३५॥

जो समाधिमरणके लिए उद्यत धनी गृहस्थ गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त तपको धारण करनेमें असमर्थ हों, वे स्वयं सर्वत्र शुद्धिके लिए जिनालयमें धनका दान करें। तथा दूसरे जन अपने दोषोंकी शुद्धिके लिए अपनी शक्तिके अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि अथवा चतुर्थभक्त (१ उपवास), षष्ठभक्त (बेला–२ उपवास), अष्टमभक्त (तेला–३ उपवास) आदि द्वारा प्रायश्चित्त (अपने पापकी शुद्धि) को करे ॥३४,३५॥

ततो बाह्यान्तरान् सङ्गान् मुक्त्वा मोहाऽक्ष-विद्विषः ।
हत्वा संवेग-शस्त्रेण प्रणम्याऽऽचार्यसत्तमम् ॥३६॥
समाधिमृत्यु-सिद्ध्यर्थं निःस्पृहोऽङ्गधनादिषु ।
सस्पृहः परलोकार्थे गृही गृह्णन्तु संयमम् ॥३७॥

तत्पश्चात् वह गृहस्थ बाहरी और भीतरी परिग्रहको छोड़कर तथा संवेगरूप शस्त्रके द्वारा मोह और इन्द्रियरूपी शत्रुका घात कर समाधि-मरणकी सिद्धिके लिए शरीर और धनादिमें निःस्पृह होकर और पर-लोकके अर्थमें सस्पृह होकर श्रेष्ठ निर्यापकाचार्यको प्रणाम करके संयम-को ग्रहण करे। समाधिमरण करानेवाले आचार्यको निर्यापकाचार्य कहते हैं ॥३६,३७॥

ततोऽसौ क्षपकः कुर्वन् सर्वशक्त्या तपोऽनघम् ।
द्विधा सल्लेखनां कुर्याद्दुःकषाय-शरीरयोः ॥३८॥

तदनन्तर वह क्षपक अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे निर्दोष तपको करता हुआ कषाय और शरीरको कृश करनेके लिए दोनों प्रकारकी सल्लेखना-को करे। सल्लेखना या समाधिमरण करनेवाले साधुको क्षपक कहते हैं ॥३८॥

क्षमादि-सद्-गुणास्तोघैः कषायारि-कुल-क्षयम् ।
कृत्वा क्षपक आत्मार्थं स्वाद्यां सल्लेखनां श्रयेत् ॥३९॥

वह क्षपक क्षमा आदि सद्-गुणोंके समुदायद्वारा कषायरूपी शत्रुओंके कुलका क्षय करके आत्म-कल्याणके लिए पहली कषायसल्ले-खनाको धारण करे ॥३९॥

क्षमा-खड्गेन कोपारिं मानारिं मार्दवाऽसिना ।
त्रिशुद्ध्याऽऽर्जवशस्त्रेण हन्यान्मायां कु-राक्षसीम् ॥४०॥

सन्तोषासि-प्रहारेण लोभ-शत्रु निकन्दयेत् ।
इत्येतैः प्रतिपक्षैः स कषायान् सर्वथा जयेत् ॥४१॥

क्षमारूपी खड्गसे क्रोधरूपी शत्रुको, मार्दवरूपी तलवारसे मानरूपी शत्रुको, तीनों योगोंकी शुद्धिरूप आर्जवशस्त्रके द्वारा मायारूपी कुराक्षसी को मारे तथा सन्तोषरूपी असिके प्रहारसे लोभरूपी शत्रुका विनाश करे। इस प्रकार वह क्षपक कषायोंके प्रतिपक्षी क्षमादि सद्-गुणोंके द्वारा कषायोंको सर्वथा जीते ॥४०,४१॥

यतोऽतिविषमाः सर्वे कषायाः दुर्जया नृणाम् ।
घातयन्ति गुणान् विश्वान् दृग्ज्ञान-चरणादिकान् ॥४२॥

ये सर्व ही कषायें अति-विषम एवं दुर्जय हैं तथा मनुष्योंके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि समस्त गुणोंका घात करती है ॥४२॥

घ्नन्त्येते शम-साम्राज्यं धर्म-सद्ध्यान-संयमैः ।
सदाऽनघं च कुर्वन्ति नयन्ति नरकं जनान् ॥४३॥

ये कषायें शमभावरूप साम्राज्यका विनाश करती हैं और मनुष्योंको धर्म, सद्ध्यान और संयमसे गिराकर उन्हें सदा पापमें प्रवृत्त कराती हैं तथा प्राणियोंको नरकमें ले जाती है ॥४३॥

अहो कषाय-संग्रस्ताः प्राणिनो दुर्भवाऽटवीम् ।
अनन्तां स्वादिहीनाश्च भ्रमिता दुःख-विह्वलाः ॥४४॥

अहो ! कषायोंसे संग्रस्त इन प्राणियोंने दुःखोंसे विह्वल होकर आदि-अन्त-रहित इस भयानक भवाटवीमें चिरकालसे परिभ्रमण किया है ॥४४॥

पराधीना भ्रमन्त्यद्य भ्रमिष्यन्ति सुखच्युताः ।
जेतुं दुष्टान् कषायारीनशक्ता यावदञ्जसा ॥४५॥

कषायोंसे पराधीन और सुखसे च्युत हुए ये दीन प्राणी आज संसारमें भ्रमण कर रहे हैं और जब तक इन दुष्ट कषायरूप शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ न होंगे, तब तक नियमसे परिभ्रमण करते रहेंगे ।।४५।।

कषाया विकृतिं यावज्जनयन्ति सतामपि ।
योगशुद्धिः कुतस्तावत्तया विना क संयमः ।।४६।।

जब तक कषायें संत पुरुषोंके भी विकार पैदा करती हैं, तब तक उनके योगोंकी शुद्धि कैसे संभव है और उसके बिना संयम कहाँ हो सकता है ? ।।४६।।

तपो चात्र शुभं ध्यानं सत्क्रिया च शुभाः गुणाः ।
एतैर्विना क संन्यास-शुद्धिः कथं शुभा गतिः ।।४७।।

शुभ ध्यान ही इस संन्यास अवस्थामें तप है और सत्क्रियाओंका आचरण करना ही शुभ गुण हैं। इनके बिना संन्यासकी शुद्धि कहां संभव है और शुभ गति भी कैसे हो सकती है ? ।।४७।।

इत्थं विचिन्त्य तद्दोषान् क्षपकः सर्वशक्तितः ।
जयेत्सर्वान् कषायारीनाद्यसल्लेखनाऽऽप्तये ।।४८।।
यतो जितकषायारिः संन्यासस्थः क्षमो भवेत् ।
पश्चात्त-तस्करान् हन्तुं विश्व-सत्कार्य-साधने ।।४९।।

इस प्रकारसे क्षपक कषायोंके दोषोंका चिन्तवन कर पहली कषाय-सल्लेखनाकी प्राप्तिके लिए अपनी सर्व शक्तिसे समस्त कषायरूपी शत्रुओंको जीते। क्योंकि कषायरूपी शत्रुओंको जीतने वाला संन्यासमें स्थित साधु ही पंच इन्द्रियरूप चौरोंके विनाश करनेके लिए तथा सभी सत्कार्योंके साधन करनेके लिए समर्थ होता है ।।४८,४९।।

ततः संशोध्य षष्ठाष्टम-पक्षादि-सुशोषकैः ।
विरक्त्या गात्रमत्यर्थं सोऽङ्गसल्लेखनां चरेत् ।।५०।।

तत्पश्चात् वेला, तेला, पक्ष, मास आदिके उपवासोंके द्वारा शरीरको अच्छी तरहसे शुद्ध करके वह साधु विरक्तिके साथ उत्तम प्रकारसे काय-सल्लेखनाका आचरण करे।

भावार्थ—कषायोंके कृश करनेके पश्चात् शरीरको क्रमशः कृश करते हुए उसे निर्विकार बनावे ॥५०॥

एतत्सिद्धये योगी चिन्तयेद्रागदूरगः ।
तपः-संन्यास-सिद्धयर्थं कायादि-राग-हानये ॥५१॥

शरीर-सल्लेखनाकी सिद्धिके लिए, तथा तप और संन्यासकी सिद्धिके लिए एवं शरीरादि सम्बन्धी रागभावके विनाशके लिए रागसे दूर रहता हुआ योगी इस (वक्ष्यमाण) प्रकारसे चिन्तवन करे ॥५१॥

अज्ञानेन चिरं कालमेतत्कायकलेवरम् ।
रागान्धेन मया निन्द्यं पोषितं भोः मुहुर्वृथा ॥५२॥

अहो ! रागसे अन्ध बनकर मैंने अज्ञानसे इस निंद्य कायके कलेवर (मांस) को वृथा ही बार-बार पोषण किया ॥५२॥

यथा काष्ठभरैरग्निश्चाब्धिर्नदीशतैः क्वचित् ।
याति तृप्तिं न कायोऽयं तथा विश्वान्नभक्षणैः ॥५३॥

जिस प्रकार काष्ठके भारसे अग्नि तृप्त नहीं होती और जिस प्रकार सैकड़ों नदियोंके समावेशसे समुद्र भी कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह शरीर भी संसारके समस्त अन्नोंके भक्षणसे कभी भी तृप्त नहीं होता है ॥५३॥

पोषितोऽयं वपुः-शत्रुर्दत्ते श्वभ्रादि-दुर्गतीः ।
परत्रात्रैव रुक्कोटीर्नृणां च दुर्जनादिवत् ॥५४॥

यथा यथाऽन्न-पानाद्यैः पोष्यते देह-दुर्जनः ।
तथा तथाऽऽत्मनो दद्याद्विकृतिं श्वभ्रकारिणीम् ॥५५॥

पोषण किया गया यह शरीररूपी शत्रु पर-भवमें नरकादि दुर्गतियोंको देता है और इस जन्ममें ही दुर्जन पुरुषादिके समान मनुष्योंको (प्राणियोंको) कोटि-कोटि रोगोंसे पीड़ित करता है। यह दुर्जन देह ज्यों-ज्यों अन्न-पानादिके द्वारा पोसा जाता है, त्यों-त्यों ही वह आत्माके नरक ले जानेवाले विकारको उत्पन्न करता है ॥५४,५५॥

यैर्मूढैः पोषितः कायस्तैः स्वजन्म वृथा कृतम् ।
शोषितो यैस्तपोयोगैस्तेषां सार्थश्च जीवितम् ॥५६॥

जिन मूढ पुरुषोंने इस कायका (विविध प्रकारके खान-पानादिसे) पोषण किया उन्होंने अपने जन्मको वृथा गमाया। किन्तु जिन महा-पुरुषोंने अनशनादि तपोयोगके द्वारा इसका शोषण किया, अर्थात् इसे सुखाया, उन्होंने अपने जीवनको सफल बनाया ॥५६॥

छिद्र-भाजन-सादृश्याङ्गस्य नित्यं प्रपूरणैः ।
किं रिक्तीकरणाद्यैर्भोः विरक्तिर्न सतां भवेत् ॥५७॥

अहो आत्मन् ! छिद्रयुक्त पात्रके सदृश इस शरीरको नित्य अन्न-पानादिके द्वारा भरनेसे तथा (मल-मूत्रादिके द्वारा) खाली करनेसे क्या लाभ है ? क्या प्रतिदिन इसे भरने और खाली करनेसे सज्जनोंको विरक्ति नहीं होना चाहिए ? अर्थात् अवश्य होना चाहिए ॥५७॥

यथाऽम्बु-सिञ्चनैश्चर्म व्रजेद्दुर्गन्धितां तथा ।
शरीरं ! पोषणैर्विष्ठा-कृमाद्याकरताञ्च भोः ॥५८॥

अहो आत्मन् ! जिस प्रकार जलके सींचनेसे चमड़ा दुर्गन्धिताको प्राप्त होता है, उसी प्रकारसे अन्नादिके द्वारा पोषण करनेसे यह शरीर

भी विष्ठाके कृमि आदिका आकर(खानि)पनेको प्राप्त होता है। अतः इसका पोषण करना ठीक नहीं है।

यथाऽतिशोषितं चर्म दुर्गन्ध-विकृतिं त्यजेत् ।
तथाऽङ्गं शोषितं पुंसां तपोभिर्निर्मलं भवेत् ॥५९॥

जिस प्रकार अच्छी तरहसे सुखाया गया चमड़ा दुर्गन्धरूप विकारको छोड़ देता है, उसी प्रकारसे तपोंके द्वारा सुखाया गया यह शरीर भी मल-मूत्रादि विकारोंको तजकर निर्मल बन जाता है ॥५९॥

असकृद्-भोजनैर्येन सन्तोषो जायते सताम् ।
तत्तृष्णा वर्धतेऽत्यर्थं किं कृत्यं तैरघाकरैः ॥६०॥

बार-बार किये जानेवाले जिन भोजनोंके द्वारा सज्जनोंको सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत उन भोजनोंके करनेकी अत्यधिक तृष्णा बढ़ती है, ऐसे पापके आकर उन भोजनोंके करनेसे क्या लाभ है ? ॥६०॥

विशेषार्थ—सभी प्रकारके भोजन तैयार करनेमें नाना प्रकारके आरंभ-समारम्भ होते हैं और कोई भी आरंभ-समारंभ बिना जीवघातके संभव नहीं है। इसलिए ग्रन्थकारने भोजनको पापका आकर कहा है। इसके अतिरिक्त अधःकर्म आदिसे उत्पन्न होने वाला तथा अपने निमित्त बनाया गया एवं अन्य जगहसे लाया गया आहार भी साधुके लिए गर्हित या अग्राह्य होनेसे पापको जननी खानिके समान है ॥६०॥

इदं यत्पोषितं गात्रं प्राक् चिरं स्वेच्छयाऽशनैः ।
तस्याद्य फलमात्मार्थं गृह्णामि सत्तपो-यमैः ॥६१॥
ध्यात्वेति क्षपकश्चित्ते तपोभिर्दुष्करैर्बलात् ।
शरीरं शोषयेन्नित्यं वपुःसल्लेखनाऽऽप्तये ॥६२॥

चिरकालसे जिस शरीरको मैंने स्वेच्छापूर्वक उत्तमोत्तम अशन-पानादिके द्वारा पहले पोषा है, उसे अब उत्तम तप-यमादिके

द्वारा सुखा करके उसका फल आज मैं अपने हितके लिए प्राप्त करता हूँ। ऐसा मनमें चिन्तवन करके वह काय-सल्लेखनाकी प्राप्तिके लिए दुष्कर तपोंके द्वारा शरीरको बलात् नित्य ही सुखावे ॥६१,६२॥

तत्सुष्ठु दुर्बलीकृत्य स्तोक-स्तोकान्न-हापनैः ।
क्रमात्तक्रादि-पानं स पिबेत्क्वचित् समाधये ॥६३॥

वह क्षपक प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अन्न कम करते हुए शरीरको अच्छी तरह दुर्बल करके क्रमसे छाछ आदि पेय वस्तुको चित्तकी समाधिके लिए कदाचित् पीवे ॥६४॥

ततः सत्पानकं त्यक्त्वा स्वल्प-स्वल्पेन संयमी ।
केवलं च पिबेन्नीरं क्वचित्सद्धयान-सिद्धये ॥६४॥

तदनन्तर वह संयमी स्वल्प-स्वल्प त्याग करते हुए सत्पानक—साधुके पीने योग्य शुद्ध छाछ आदि को भी छोड़कर सद्ध्यानकी सिद्धिके लिए केवल जलको पीवे ॥६५॥

ततो मुक्त्वाऽखिलाऽऽहारं चतुर्विधमनुक्रमात् ।
यावज्जीवं करोत्येष शोषकानघ-हानये ॥६५॥

इस प्रकार अनुक्रमसे चारों प्रकारके आहारको छोड़कर तत्पश्चात् वह क्षपक पापोंके क्षय करनेके लिए जीवित रहने तक उपवासोंको करे ॥६५॥

त्वगस्थीभूत-देहोऽपि क्षपको धृति-धैर्यतः ।
क्षुधाद्यान् दुःसहान् सर्वान् परीषह-भटान् जयेत् ॥६६॥

शरीरमें खाल और हड्डी मात्र शेष रह जाने पर भी क्षपक अपनी धीर-वीरतासे सभी दुःसह क्षुधादिक परीषहरूपी सुभटोंको जीते ॥६६॥

क्षुधादिकी दुःसह वेदनाके होनेपर क्षपक किस प्रकार चिन्तवन करे, इस बातको बतलाते हैं—

क्षुधादि-वेदने तीव्रे प्रादुर्भूतेऽतिदुःसहे ।
तज्जयाय शिवार्थश्च योगीति चिन्तयेद्हृदि ॥६७॥

क्षुधादिकी अतिदुःसह तीव्र वेदनाके प्रकट होनेपर उसके जीतने एवं आत्म-कल्याण करनेके लिए योगी अपने हृदयमें इस प्रकार चिन्तवन करे ॥६७॥

अहो मया भवाऽरण्ये भ्रमताऽतिकुकर्मभिः ।
बहु-सागर-पर्यन्तं भुक्ता सर्वाङ्ग-शोषणी ॥६८॥

अहो ! अति खोटे कर्मोंके वश होकर इस भव-वनमें परिभ्रमण करते हुए मैंने अनेक सागर-पर्यन्त इस सर्वाङ्ग-शोषणी क्षुधावेदनाको भोगा है ॥६८॥

विश्वान्न-भक्षणाऽसाध्या तीव्रा क्षुद्वेदना परा ।
वारानन्तातिगान् सप्तनरकेष्वशनाद्दते ॥६९॥
यतः क्षुधा स्वभावेन नारकाणां च्युतोपमा ।
सर्वान्नभोजनाशाम्या दुःसहाऽस्त्येव शाश्वता ॥७०॥
तिलमात्राशनं जातु लभन्ते तेऽशितुं न भोः ।
सहन्ते केवलं दीनाः क्षुधां सर्वाङ्गदाहिनीम् ॥७१॥

हे आत्मन ! नरकोंमें क्षुधाकी जो उत्कृष्ट तीव्र वेदना है, वह संसारके समस्त अन्नके खानेसे भी शान्त नहीं हो सकती है। उसे तूने भोजनके विना ही सातों नरकोंमें अनन्त बार सहा है। क्योंकि नारकियोंके स्वभावसे ही जो भूख लगती है, उसकी कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती है। वह संसारके सर्व भोजनसे भी कभी शान्त नहीं हो सकती, सदा दुःसह ही है अर्थात् उसे पराधीन होकर दुःखोंके साथ सहन ही करना पड़ता है। भो आत्मन् ! वे दीन नारकी कदाचित् भी

तिलमात्र भोजनको नहीं प्राप्त कर पाते हैं, किन्तु बेचारे उस सर्वाङ्ग-दाहिनी क्षुधाको निरन्तर सहन ही किया करते हैं ॥६९,७०,७१॥

तत्क्षुदुःखं क्व बह्वब्धिप्रमाणं मेरु-सन्निभम् ।
क्वैतत्सर्षपमात्रं क्षुदुःखं को गणयेन्महत् ॥७२॥

हे आत्मन् ! नरकोंमें बहुत सागरोपम काल तक भोगा गया वह मेरुके सदृश महान् क्षुधाका दुःख तो कहाँ; और यह सरसोंके समान जरा-सा क्षुधाका दुःख कहाँ ! इसे कौन महापुरुष महान् गिनेगा ॥७२॥

भावार्थ—हे क्षपक आत्मन् ! नरकोंमें जो तू मेरुतुल्य भूखके कष्टको भोग आया है, उसके सामने तो अब यह भूखकी वेदना सरसोंके बराबर भी नहीं है। इसलिए इसे तू शान्तिपूर्वक सहन कर ॥७२॥

इति ध्यान-सुधाहारैः सन्तोषामृत-भोजनैः ।
सदा क्षुद्वेदनां योगी शमयेद्दीनतातिगः ॥७३॥

इस प्रकार ध्यानामृतरूप आहारसे या सन्तोषामृतरूप भोजनसे वह योगी दीनतासे अति दूर रहता हुआ क्षुधाको वेदनाको सहन करे ॥७३॥

अब ग्रन्थकार तिर्यगतिके क्षुधा-जनित दुःखोंका वर्णन कर क्षपकको सम्बोधन करते हैं—

तिर्यग्गतीषु बह्वीषु पराधीनतया मया ।
अनुभूता च याऽनन्तवारान् क्षुत्त्रसजातिषु ॥७४॥
स्थावरेषु धराद्येषु जल-स्थल-खगादिषु ।
अनन्तकालमत्यर्थं सा प्रोक्तुं शक्यते कथम् ॥७५॥

तिर्यग्गतिमें नाना प्रकारकी जलचर, थलचर और नभचर त्रस जातियोंके भीतर पराधीन होकर मैंने जो अनन्तबार भूखकी वेदना भोगी और पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीवोंमें अनन्तकाल तक जो

अति दुःसह भूखकी पीड़ा सही, वह कैसे कही जा सकती है ? अर्थात् उसे कहना असंभव है ॥७४,७५॥

यतोऽत्र पशवः साक्षाद् दृश्यन्तेऽतिक्षुधाऽऽकुलाः ।
केचिद् बन्धनबद्धांगाः केचिज्जालावृताः परे ॥७६॥
पञ्जरस्थाः पराधीना भुञ्जानाः दुःखमुल्वणम् ।
तस्माद्दुःखभरादेतत्क्षुदुःखं किं तपोभवम् ॥७७॥

अहो साधो ! देखो, रस्सी आदिके बन्धनोंसे जिनके शरीर बंध रहे हैं, ऐसे ये कितने ही पशु, तथा जालोंमें फँसे हुए और पिंजरोंमें बन्द, ऐसे ये कितने ही पशु-पक्षी पराधीन होकर भूखसे आकुल-व्याकुल होते और अत्युग्र दुःखको भोगते हुए साक्षात् दिखाई दे रहे हैं। फिर उनके उस दुःख-भारसे यह तपोजनित तुम्हारी भूखका दुःख कितना-सा है ॥७६,७७॥

इति चिन्तन-सन्तोषाहारैः प्रत्यक्षवीक्षणैः ।
क्षुधाऽऽक्रान्तपशूनां स क्षुधाग्निं शमयेद् बलात् ॥७८॥

इस प्रकार भूखकी वेदनासे पीड़ित पशुओंके प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दुःखोंको विचार कर सन्तोषरूप आहारसे वह साधु अपनी भूखकी ज्वालाको दृढ़तापूर्वक शान्त करे ॥७८॥

अब ग्रन्थकार मनुष्यगतिके क्षुधा-जनित दुःखोंका वर्णन कर क्षपकको सम्बोधन करते हैं—

दरिद्र-नीच-दीनादि-कुकुलेषु नृजातिषु ।
दुर्भिक्षे बन्दि-गेहादौ बन्धने रोगकोटिषु ॥७९॥
पराधीनतयाऽनेक-लङ्घनैश्च मुहुर्मुहुः ।
प्राप्तोऽहं कर्म-पाकोत्थां क्षुद्बाधां प्राण-नाशिनीम् ॥८०॥

मनुष्यगतिके दरिद्र, नीच, दीन आदि खोटे कुलोंमें और हीन जातियोंमें जन्म लेकर दुर्भिक्ष पड़ने पर, बन्दीगृह आदिमें बन्धन-बद्ध होनेपर, तथा कोटि जातिके रोगोंके होनेपर पराधीन हो बार-बार अनेकों लंघनोंके द्वारा मैं कर्म-विपाक-जनित प्राण-नाशक भूखकी घोर पीड़ाको प्राप्त हुआ हूँ।

दृश्यन्ते नृगतौ साक्षात्केचिद्वन्दिगृहे धृताः ।
अपरे शृङ्खला-बद्धाः गर्ताद्येऽन्ये निवेशिताः ॥८१॥
परे रोगशताऽऽक्रान्ताः कुर्वाणाः बहुलङ्घनान् ।
अन्ये च व्यसनार्ताः क्षुधां श्रयन्तोऽतिदुःसहाम् ॥८२॥

मनुष्यगतिमे कितने ही तो साक्षात् कैदखानोंमें बन्द किये दिखाई देते हैं, कितने ही सांकलोंसे बंधे हुए और कितने ही गड्ढोंमें चिने या गाड़ दिये गये दिखाई देते हैं और भूखकी वेदनाको सह रहे हैं। कितने ही लोग सैकड़ों रोगोंसे आक्रान्त होकर अनेकों लंघनोंको करते हुए नज़र आते हैं और कितने ही व्यसनोंसे पीड़ित होकर भूखकी अति दुःसह वेदनाको भोग रहे हैं ॥८१-८२॥

एभ्यः क्षुद्दुःख-राशिभ्यो मुहुर्जातेषु कर्मभिः ।
उपवासभवं दुःखं कियन्मात्रमिदं सताम् ॥८३॥

हे आत्मन्! कर्मोदयसे बार बार उत्पन्न होनेवाली भूखकी इन दुःख-राशियोंके सामने तुम्हारा यह उपवासजनित दुःख तुम जैसे सन्तोंके लिए कितना-सा है? कुछ भी नहीं ॥८३॥

सह्यन्तेऽत्र पराधीनतया लङ्घनराशिभिः ।
यथा दुःकर्मजा लोकैः क्षुत्क्लेश-दुःख-कोटयः ॥८४॥

तथा किमात्र सोढव्योपवासादि-तपो-भवा ।
क्वचित्क्षुद्वेदना व्याप्ता दक्षैः सर्वार्थसिद्धिदा ॥८५॥

हे आत्मन् ! इस जगत्में लोग पराधीन होकर अनेकों लंघनोंको करते हुए दुःकर्म-जनित भूखके अति-संक्लेश-कारक करोड़ों दुःखोंको जिस प्रकारसे सहन करते हैं, उस प्रकारसे उपवासादि-तपोजनित, सर्व अर्थकी सिद्धि-दायिनी शरीरमें व्याप्त यह क्षुद्वेदना दक्ष पुरुषोंको क्यों न सहनी चाहिए ? अर्थात् सज्जनोंको स्वयं समाहूत यह भूखका दुःख सहन करना ही चाहिए, क्योंकि इससे इष्ट मनोरथ सिद्ध होंगे ॥८४,८५॥

यतो ये तपसे नाहो कुर्वन्ति शोषकान् जडाः ।
लभन्ते तेऽघ-पाकेन मुहुर्लङ्घन-सन्ततीः ॥८६॥
ये सदा कुर्वते दक्षा उपवास-तपो-विधीन् ।
ते स्वप्नेऽपि लभन्ते न रुक्-क्लेश-लङ्घनान् बहून् ॥८७॥

अहो ! जो मूर्खजन तपके लिए उपवासोंको नहीं करते हैं वे अपने पापोंके परिपाकसे बार-बार लंघनोंकी परम्पराको प्राप्त होते हैं। अर्थात् उन्हें बार-बार लंघनें करना पड़ती हैं। किन्तु जो चतुर एवं कुशल पुरुष उपवास-तपके विविध प्रकारोंको सदा करते रहते हैं, वे स्वप्नमें भी विविध रोगोंके क्लेशको और लंघनोंके कष्टको नहीं प्राप्त होते हैं ॥८६-८७॥

क्वचित्कर्मवशाद्रोग आगतोऽपि तपस्विनाम् ।
स्थितिं कर्तुं न शक्नोति तपः-सुभट-ताडितः ॥८८॥
नित्यान्न-भक्तकाणाञ्च लम्पटानां सदाशिनाम् ।
सर्वाङ्गेषु श्रयन्तेऽहो रुग्दुःख-क्लेश-कोटयः ॥८९॥

उपवासादि तप करनेवाले तपस्वीजनोंको यदि कदाचित् कर्मके

वशसे कोई रोग आ भी जावे, तो वह तपरूपी सुभटसे ताड़ित होकर स्थिति करनेके लिए समर्थ नहीं है अर्थात् ठहर नहीं सकता है। किन्तु जो नित्य ही अन्नके भक्षक हैं, भोजनके लम्पटी हैं और जिन्हें रात-दिन खानेकी ही धुन सवार रहती है, उनके सारे शरीरमें हे आत्मन्! करोड़ों रोगोंके दुःख और क्लेश उत्पन्न होते रहते हैं ॥८८,८९॥

एतैश्चिन्ता-शुभध्यानैः सन्तोषाहार-भोजनैः ।
जयेत्सर्वां क्षुधा-बाधां मृत्यन्तां क्षपकोऽन्वहम् ॥९०॥

इस प्रकारके चिन्तवनरूप शुभ ध्यानसे और सन्तोषरूप आहारके भोजनसे वह क्षपक मरण-पर्यन्त प्रतिदिन क्षुधाकी सारी पीड़ाको जीते। अर्थात् धैर्यपूर्वक उसे सहन करे ॥९०॥

इस प्रकार क्षुधा परीषहसे जीतनेका उपदेश दिया। अब तृषा परीषहके जीतनेके लिए ग्रन्थकार उपदेश देते हैं—

पिपासा जायतेऽत्यर्थमन्तर्बाह्याङ्ग-शोषिणी ।
यदा तदाऽऽत्मवान् योगी तज्जयायेति चिन्तयेत् ॥९१॥

संन्यास-ग्रहण करनेके पश्चात् यदि भीतर और बाहर देहको सुखा देनेवाली प्यासकी अति उग्र पीड़ा उत्पन्न हो जाय, तो आत्म-श्रद्धावान् वह योगी उस प्यासकी वेदनाको जीतनेके लिए इस प्रकार चिन्तवन करे :—

अहो नारक-पृथ्वीसु सर्वासु भ्रमता मया ।
विश्वाब्धि-जलपानाद्यैरसाध्यातितृषोल्वणा ॥९२॥
वाऽपरैः पापिभिः सर्वैः प्राप्ता वारानंनन्तशः ।
अनेकाम्भोधि-पर्यन्तं तीव्रोष्माद्यैश्च्युतोपमाः ॥९३॥
यतः श्वभ्रे निसर्गेण तृषाग्निर्ज्वलते सदा ।
अशाम्या नारकाङ्गेषु तीव्रा विश्वाब्धिवारिभिः ॥९४॥

बिन्दुमात्राम्बु-पानं न लभन्ते जातु नारकाः ।
सहन्तेऽघैः तृषा-ज्वालां दव-ज्वालामिवोर्जिताम् ॥९५॥

अहो ! सभी नारक-पृथिवियोंमें परिभ्रमण करते हुए मैंने ऐसी उल्वण (विकट) प्यासकी वेदना भोगी है जो कि संसारके समस्त समुद्रोंके जलपान आदिसे भी कभी शान्त नहीं हो सकती थी। तथा मेरे समान अन्य सभी पापी जीवोंने भी अनन्तबार अनेक सागर-पर्यन्त तीव्र उष्णतासे उत्पन्न होनेवाली उस प्यासकी ऐसी भयंकर वेदना सही है जिसकी कि संसारमें कोई उपमा मिलना संभव नहीं है। यतः (चूँकि) नरकोंमें स्वभावसे ही तृषाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, अतः उनमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीवोंके शरीरोंमें जो प्यासकी तीव्र वेदना होती है, वह विश्वके समस्त सागरोंके जलसे भी शान्त नहीं हो सकती है। किन्तु उन नारकी जीवोंको कदाचित् भी बिन्दुमात्र जल पीनेको नहीं मिलता। और वे नारकी जीव पूर्व पापोंके उदयसे दावा-नलकी ज्वालाके समान अति प्रचण्ड प्यासकी ज्वालाको निरन्तर सहा करते है ॥९२,९३,९४,९५॥

इस प्रकार नरकगतिक पिपासा-जनित दुःखोंका वर्णन कर अब ग्रन्थकार तिर्यग्गतिके पिपासा-जनित दुःखोंका वर्णन करते हैं—

तिर्यग्गतौ मृगादीनां भवेषु मृगतृष्णया ।
मरुस्थले मया प्राप्ता धावता तृट् चिरं परा ॥९६॥

तिर्यग्गतिमें मृगादिके भवोंमें मृगतृष्णासे पीड़ित होकर मरुस्थलमें दौड़ते हुए मैंने चिरकाल तक प्यासके महान् कष्टको प्राप्त किया है। (फिर हे आत्मन्, उसके सामने तेरी यह प्यासकी पीड़ा कितनी है ?) ॥९६॥

अब मनुष्यगतिमें भोगे गये प्यासके दुःखोंका वर्णन करते हैं—

मनुष्येषु दरिद्राद्यैः द्रव्यार्थं भ्रमताऽन्वहम् ।
वनाटवी-समुद्रेषु बाह्यान्तर्दाहिनी च तृट् ॥९७॥

इत्याद्यन्यैश्चिरं कालं दाह-पित्तज्वरादिभिः ।
तरां प्रज्वलिताङ्गोऽहं प्रादुर्भूतैस्तृषाऽग्निभिः ॥९८॥
एतेभ्यश्चिरकालोत्थ-तृड्दुःखेभ्यो नृपुङ्गव ।
संन्यासस्थोऽल्प-तृड्-दुःखं तपोजं कोऽत्र मन्यते ॥९९॥

मनुष्योंमें उत्पन्न होकर और दरिद्रता आदिसे पीड़ित होकर धन कमानेके लिए वन, अटवी और समुद्रोंमें निरन्तर परिभ्रमण करते हुए मैंने भीतर और बाहर शरीरको जलानेवाली तृषाकी पीड़ाको चिरकाल तक सहा है तथा ग्रीष्म-दाह और पित्त-ज्वर आदिसे एवं इसी प्रकारके अन्य अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुई तृषाग्निसे भी अत्यन्त प्रज्वलित होकर मैं चिरकाल तक महाकष्टोंको भोगता रहा हूँ। फिर हे नरपुंगव—हे पुरुषोत्तम ! संन्यासमें अवस्थित होकर तपोजनित यह अल्प प्यासका दुःख इन महाकष्टोंके सम्मुख कितना-सा है और कौन इसे दुःख मानेगा ? ॥९८,९९॥

कुगतौ सह्यतेऽहो परवशेन तृषा यदि ।
तर्हि किं न हि सोढव्या स्ववशे मुक्तये बुधैः ॥१००॥
इत्थं विचार-पानाद्यैः ज्ञान-ध्यान-सुधारसैः ।
क्षपको धैर्ययोगाद्यैर्जयेत्तृषा-परीषहम् ॥१०१॥

अहो आत्मन् ! यदि तुमने परवश होकर कुगतियोंमें प्यासके अनन्त दुःखोंको सहन किया है, तो फिर आज स्ववश होकर प्यासके दुःखको विद्वज्जन मुक्तिके लिए क्यों न सहन करें ? अर्थात् तुझे भी कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिए प्यासके दुःखको शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। इस प्रकारके विचारात्मक पान (पेय द्रव्य) आदिके द्वारा और ज्ञान-ध्यानरूप सुधारसके पान द्वारा क्षपक धीर-वीरताके साथ तृषा-परीषहको जीते ॥१००,१०१॥

अब ग्रन्थकार क्षपकको शय्या-परीषह जीतनेका उपदेश देते हैं—

कर्कशैः संस्तराद्यैः प्रोत्पद्यते दुःखमात्मनः ।
तज्जयाय तदा दक्षैश्चिन्तनीयमिदं मुहुः ॥१०२॥

कर्कश संस्तर—शय्या आदिके द्वारा—कठोर भूमिपर सोने आदिसे—यदि आत्माके दुःख उत्पन्न हो, तो उसके जीतनेके लिए दक्ष—साधुजनोंको इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना चाहिए ॥१०२॥

वज्र-संकट-संकीर्णे भूतले नरकेष्वहो ।
सहस्र-वृश्चिकातीव-भक्षणादिक-वेदने ॥१०३॥
बह्वव्ध्यन्तं प्रसुप्तोऽहं मुहुर्दुःखाग्नि-मध्यगः ।
क्वचित्स्फुलिङ्ग-शय्यायां प्रक्षिप्तो नारकैर्बलात् ॥१०४॥

अहो आत्मन्! (जब तुम पाप-कर्मके उदयसे नरकोंमें उत्पन्न हुए तब तुमने वहाँके) वज्रमय तीक्ष्ण काटोंसे व्याप्त और हजारों बिच्छुओंके एक साथ काटनेसे उत्पन्न होनेवाली वेदनासे भी अधिक वेदना देनेवाले भूतलपर अनेक सागर-पर्यन्त महादुःखरूप अग्निके मध्यमें बार-बार शयन किया है और स्फुलिंग—अग्नि-कण जिसमेंसे चारों ओर उड़ रहे हैं, ऐसी धधकती अग्नि—जैसी शय्यापर नारकियोंके द्वारा तुम असंख्य बार जबरन फेंक दिये गये अर्थात् सुलाये गये हो। (फिर नरकोंकी उस शय्या-वेदनाके सामने आज यह शय्या-जनित दुःख तुम्हारे लिए कितना-सा है?)॥ १०३,१०४॥

तिर्यग्योनौ प्रसुप्तोऽहं पराधीनो विधेर्वशात् ।
खर्परोपल-तीक्ष्णादि-कण्टक-व्याप्त-भूतले ॥१०५॥

और हे आत्मन्! जब तुम दुर्भाग्यके वशसे तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए, तब तुमने सदा ही खप्पर, पत्थर और तीक्ष्ण कंटक आदिसे

व्याप्त भूतलपर शयन किया है। (फिर इस समय क्या उस दुःखको भूल गये हो, और क्या पशुओंके इस शय्या-जनित दुःखको आज अपनी आँखोंसे नहीं देखते हो ? फिर सोचो, कि तुम्हारे यह तृणादिकी शय्यापर सोनेसे उत्पन्न होने वाला दुःख है ही कितना-सा ? अतएव इसे शान्तिपूर्वक धीरताके साथ सहन करो) ॥१०५॥

दारिद्र्य-ग्रसितो दीनः स्वोदरार्थं भ्रमन् महीम् ।
शिलाद्रि-कठिन-क्ष्मासु सुप्तोऽहं नृमवेष्वहम् ॥१०६॥
तेभ्यः शयन-दुःखेभ्य इदं संस्तरजं मनाक् ।
स्वीकृताऽनशनो धीरो गणयेत्कः शिवाऽध्वगः ॥१०७॥

और भो आत्मन् ! असंख्य मनुष्य-भवोंमें भी तू दरिद्र-कुलोंमें जन्म लेकर और दरिद्रतासे पीडित होकर तथा दीन-याचक बन कर अपने उदरकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए भूमण्डल-पर परिभ्रमण करता हुआ क्या शिलाओंपर और पर्वतोंकी कठोर एवं कर्कश भूमियोंपर असंख्यबार नहीं सोया है ? फिर स्वयं सहर्ष उपवासोंको स्वीकार करने वाला कौन धीर-वीर शिव-पुरीका पथिक उन शयन-जनित दुःखोंसे इस तृण-संस्तर-जनित जरा से दुःखको दुःख गिनेगा ? ॥१०६,१०७॥

भावार्थ—नरक, तिर्यंच और दीन-दरिद्री मनुष्यके भवोंमें तूने असंख्यबार जो शय्या-जनित अनन्त दुःखको परवश होकर भोगा है, उसके सामने यह स्वयं स्वीकृत शय्या-जनित दुःख है ही कितना-सा ? अतः इसे शान्ति और धीर-वीरताके साथ सहन कर ॥१०६,१०७॥

इत्यन्य-वशोत्पन्न-शयन-ध्यान-चिन्तनैः ।
संस्तरोद्भवमात्मार्थी जयेच्छय्या-परीषहम् ॥१०८॥

इस प्रकार नरक, तिर्यंच और मनुष्यके भवोंमें अन्यके वशसे

उत्पन्न शय्या-जनित दुःखोंके ध्यान और चिन्तनके द्वारा आत्म-हितका इच्छुक क्षपक तृण-संस्तर-जनित शय्या-परीषहको जीते। ॥१०८॥

इस प्रकार शय्या-परीषहके जीतनेका उपदेश देकर अब ग्रन्थकार अरति-परीषहके जीतनेका उपदेश देते हैं—

बहूपवास-बाधाद्यैर्जाताऽरति-परीषहम् ।
सिद्धान्ततत्त्व-चिन्ताद्यैरर्तिं कृत्वा जयेत्सदा ॥१०९॥

बहुत उपवास करनेसे यदि कोई शारीरिक-बाधादि उत्पन्न हो जाय और उससे उपवास आदि करनेसे मनमें अरुचि उत्पन्न हो या धर्म-साधनमें अरति या अनुत्साह उत्पन्न हो, तो क्षपकको चाहिए कि वह अपने चित्तको सिद्धान्त-तत्त्वोंके चिन्तन आदिमें लगाकर धर्म-साधन एवं आत्माराधनमें रत होकर सदा अरति-परीषहको जीते ॥१०९॥

अब ग्रन्थकार रोग-परीषहको जीतनेका उपदेश देते हैं—

यद्यसद्वेद्य-पाकेन कश्चिद् रोगोऽत्र जायते ।
तद्बाधा-जयनार्थैषस्तदेदं चिन्तयेद्धृदि ॥११०॥

यदि असातावेदनीय कर्मके विपाकसे इस समाधिमरणके अवसरपर कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो उसकी बाधाको जीतनेके लिए वह क्षपक अपने हृदयमें इस प्रकार चिन्तवन करे। ॥११०॥

गात्रं तुदति रोगोऽयं नामूर्त्तं मां चिदात्मकम् ।
यथा गृहं दहेदग्निस्तदन्तस्थं नभो न च ॥१११॥

अहो आत्मन्! यह रोग इस जड़ शरीरको पीड़ा देता है, किन्तु अमूर्त एवं चिदात्मक मुझे पीड़ा नहीं देता है। जैसे घरमें लगी हुई अग्नि जड़ घरको जलाती है, किन्तु घरके भीतर वर्तमान अमूर्त आकाशको नहीं जलाती ॥१११॥

यो रुक् पूर्वार्जिताऽघानां विनाशं कुरुते मम ।
स्वल्प-दुःखादि-दानैः स कथं नेष्टो हितङ्करः ॥११२॥

और जो रोग मेरे पूर्वोपार्जित पाप-कर्मोंका विनाश करता है, वह यदि स्वल्प दुःखादि भी देता है, तो भी वह महान् हितकारी है; क्योंकि वह महापापोंसे विमुक्त करता है। अतः वह इष्ट कैसे नहीं है? अर्थात् रोगको इष्ट जनके समान आत्म-हितकर ही मानना चाहिए ॥११२॥

तदा वा धीमतां रोग-क्लेशादिभिः प्रतिक्षणम् ।
देहादौ क्षीयते रागः संवेगो वर्धते तराम् ॥ ११३ ॥
इति संज्ञान-चिन्ताद्यैः सर्वो रोगपरीषहः ।
सह्यते क्षपकैः कृत्स्नं शक्त्या दुःकर्म-शान्तये ॥११४॥

और रोग-जनित क्लेशादिसे तो बुद्धिमानोंका शरीर आदिमें राग प्रतिक्षण क्षीण होता है और अत्यन्त संवेग बढ़ता है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञानके द्वारा चिन्तनादि करते हुए सभी क्षपक-जन सर्व रोग-परीषहको अपने समस्त दुष्ट-कर्मोंको शात करनेके लिए सहन करते हैं। सो हे आत्मन्! तुझे भी यह रोग-जनित कष्ट सम-भावपूर्वक धीरताके साथ सहन करना चाहिए ॥११३,११४॥

इस प्रकार क्षुधादि परीषहोंके सम-भावपूर्वक सहनेका उपदेश देकर अब ग्रन्थकार चारों आराधनाओंकी उत्तरोत्तर शुद्धि करनेका विधान करते हैं—

ततोऽद्भुत-पदाप्त्यै स्वान्तःशुद्धिं विधाय सः ।
चतुराराधना-शुद्धिं त्रिशुद्धया कुरुतेऽन्वहम् ॥११५॥
सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-तपःसंज्ञा इमा मताः ।
आराधनाश्चतस्रोऽत्र विश्वाऽभीष्ट-फल-प्रदाः ॥११६॥

इस प्रकार भूख, प्यास और रोगादिकी वेदनाको शान्तिपूर्वक सहन करनेके पश्चात् या उन्हें सम-भावसे सहते हुए वह क्षपक सर्व-

अभीष्ट फलोंको देनेवाली सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तपसंज्ञक इन चारों आराधनाओंकी शुद्धिको त्रियोग शुद्धिसे करे।

भावार्थ—तदनतर क्षपकको प्रतिदिन मन-वचन-कायकी शुद्धि-द्वारा चारों आराधनाओंकी उत्तरोत्तर शुद्धि करना चाहिए, क्योंकि ये चारों आराधनाएँ ही अभ्युदय और निश्रेयसरूप सर्व वांछित फलोंको देती हैं ॥११५,११६॥

अब ग्रन्थकार सर्वप्रथम सम्यक्त्व-आराधनाकी शुद्धिके लिए उपदेश देते हैं—

> दृग्विशुद्धिर्विधेयाऽऽदौ निःशङ्कादिगुणाष्टभिः।
> त्यक्त्वा शङ्कादिदोषाष्टौ त्रिधा मूढत्वमञ्जसा ॥११७॥
> जात्याद्यष्टमदान् निंद्यान् षोढाऽनायतनानि च।
> श्रद्धा-रुचि-प्रतीत्याद्यैस्तत्त्वार्थार्हन्महात्मनाम् ॥११८॥

सबसे पहले शङ्कादि आठ दोषोंको, तीनों मूढताओंको, जाति-कुलादिक निंद्य आठों मदोंको और छहों अनायतनोंको नियमसे दृढता-पूर्वक छोड़कर और निःशंकित आदि आठ गुणोंको धारणकर तत्त्वार्थ एवं अर्हन्त परमेष्ठीकी श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदिके द्वारा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करना चाहिए ॥११७,११८॥

विशेषार्थ—देव, शास्त्र, गुरुकी और सप्त तत्त्वोंकी दृढ़ प्रतीति करनेको सम्यग्दर्शन कहते है। इस सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए जिन शङ्कादि पचीस दोषोंको छोड़ने और निःशंकित आदि आठ गुणोंको धारण करनेकी ग्रन्थकारने सूचना की है, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

(१) शंका-दोष—जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंमें सन्देह करना।

(२) कांक्षा-दोष—धर्म-सेवनके द्वारा किसी भी प्रकारके लौकिक लाभकी इच्छा करना।

(३) विचिकित्सा-दोष—रत्नत्रयधारियोंके मलिन देहको देखकर घृणा करना।

(४) मूढ़दृष्टि-दोष—अपनी दृष्टिको स्व-पर-विवेकसे शून्य रखना।

(५) अनुपगूहन-दोष—दूसरोंके अवगुणोंको और अपने गुणोंको प्रकट करना।

(६) अस्थितिकरण-दोष—विषय-कषायादिके निमित्तसे सम्यक्त्व या चारित्र-से गिरते हुए मनुष्यको स्थिर करनेका प्रयत्न न करके उसे गिरानेका प्रयत्न करना।

(७) अवात्सल्य-दोष—अपने साधर्मी भाइयोंके साथ प्रेममय व्यवहार न रख करके उनके साथ छल करना, उनसे ईर्ष्यादि करना।

(८) अप्रभावना-दोष—अपने भीतर सामर्थ्यके होते हुए भी सद्धर्म-प्रचार-के कार्योंको नहीं करना और करते हुए लोगोंको निरुत्साहित करना।

ये शंकादि आठ दोष हैं।

(९) जाति-मद—अपनी माताके उच्चजातीय होनेका गर्व करना।

(१०) कुल-मद—अपने पिताके उच्चवंशीय होनेका मद करना।

(११) ज्ञान-मद—अपनी विद्या-बुद्धि आदिका अहंकार करना।

(१२) पूजा-मद—अपनी लोक-प्रतिष्ठा-मान्यतादिका अभिमान करना।

(१३) बल-मद—अपने बल-वीर्यका गर्व करना।

(१४) ऋद्धि-मद—अपने धन-वैभवादिका मद करना।

(१५) तप-मद—अपनी तपस्यादिका अहंकार करना।

(१६) वपु-मद—अपने शरीरकी सुन्दरताका अभिमान करना।

ये आठ मद-दोष हैं।

(१७) कुगुरु-सेवा—ढोंगी-पाखण्डी गुरुओंकी सेवा करना।

(१८) कुदेव-सेवा—रागी-द्वेषी देवताओंकी उपासना करना।

(१९) कुधर्म-सेवा—राग-द्वेष-वर्धक मिथ्या-धर्मकी आराधना करना।

(२०) कुगुरु-सेवक-प्रशंसा—कुगुरुके भक्तोंकी प्रशंसा करना।

(२१) कुदेव-सेवक-प्रशंसा—कुदेवके भक्तोंकी सराहना करना।

(२२) कुधर्म-सेवक-प्रशंसा—कुधर्म-सेवकोंकी अनुमोदना करना।
ये छह अनायतन—अधर्म-स्थान कहलाते हैं।

(२३) लोक-मूढ़ता—धर्म समझकर गंगादि नदियोंमें स्नान करना, अग्नि-प्रवेश करना, पर्वतसे गिरना एवं इसी प्रकारकी लौकिक मूढ़ताओंको करना।

(२४) देव-मूढ़ता—अभीष्ट फलकी प्राप्तिकी आशासे रागी-द्वेषी देवताओंकी आराधना करना।

(२५) पाखण्डि-मूढ़ता—आरम्भी-परिग्रही एवं मिथ्यात्वी साधुओंका आदर-सत्कार करना, उन्हें उत्तम बताना।

ये तीन मूढ़ताएँ कहलाती हैं। इस प्रकार शंकादि आठ दोष, जातिमद आदि आठ मद, कुगुरु-सेवादि छह अनायतन और लोकमूढ़तादि तीन मूढ़ताएँ, ये सब मिलकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते हैं। इनको दूर करनेसे तथा निःशंकित आदि आठ अंगोंको धारण करनेसे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है। ऊपर जो शंकादि आठ दोष बतलायें है, उनके नहीं करनेसे क्रमशः निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना नामके आठ गुण प्रकट होते हैं ॥११७,११८॥

एकया दृग्विशुद्ध्याऽहो सर्वा ज्ञानादिशुद्धयः।
स्वयमेव भवन्त्याशु तां विना ता निरर्थिकाः ॥११९॥
ज्ञात्वेति क्षपकैर्यत्नाद्विशुद्धिर्दर्शनस्य भोः।
कार्या विश्वान् भयान् दोषान् हत्वा ज्ञानादिशुद्धये ॥१२०॥

अहो भव्यात्मन्! एक दृग्विशुद्धिके द्वारा अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शनके धारण करनेरूप सम्यक्त्वाराधनासे—ज्ञान-चारित्रादि सभी आराधनाओंकी शुद्धि स्वयमेव बिना किसी प्रयत्नके शीघ्र हो जाती है। अतएव दृग्विशुद्धिके बिना शेष आराधनाएँ निरर्थक हैं अर्थात् किसी भी अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं। ऐसा जानकर समाधिमरणके स्वीकार करनेवाले क्षपकोंको ज्ञानादि शेष आराध-

नाओंकी शुद्धिके लिए सर्वप्रकारके (सातों) भयों और (पच्चीस) दोषोंका विनाशकर सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करना चाहिए।।११९,१२०।।

विशेषार्थ--सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए सात भयोंका छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। वे सात भय इस प्रकार हैं—

(१) **इहलोक-भय**— इस लोक-संबन्धी परिस्थितियोंसे घबड़ाना।

(२) **परलोक-भय**—आगामी भयसे होनेवाले दुःखोंसे डरना।

(३) **वेदना-भय**—रोगादिकी वेदनासे भयभीत रहना।

(४) **मरण-भय**—मृत्युसे डरना।

(५) **अत्राण-भय**— अरक्षा या अशरणावस्थामें डरना।

(६) **अश्लोक-भय**—पूजा-प्रतिष्ठा और मान-सम्मान आदिके चले जानेके भयसे डरना।

(७) **अकस्माद्-भय**--अचानक आनेवाली आपत्तियोंसे डरना।

इन सातों भयोंके अभाव होनेपर ही सम्यग्दृष्टिका निःशंकित अंग परिपूर्णताको प्राप्त होता है।

अब ग्रन्थकार दूसरी ज्ञानाराधनाकी शुद्धिके लिए उपदेश देते हैं—

कालाद्यध्ययनाचारैरष्टाभिः पावनादिकैः।
ज्ञानाय ज्ञान-संशुद्धिः कार्या कूटादिवर्जनैः ।।१२१।।

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कालाध्ययनादि आठ पावन ज्ञानाचारोंके द्वारा छल-प्रपंचादि कुटिल भावोंको छोड़कर ज्ञानकी भले प्रकार शुद्धि करना चाहिए ।।१२१।।

विशेषार्थ—ग्रन्थकारने जिन आठ ज्ञानाचारोंका निर्देश किया है, वे इस प्रकार हैं— १ ग्रन्थाचार, २ अर्थाचार, ३ उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ बहुमानाचार और ८ अनिह्नवाचार। इनका खुलासा इस प्रकार है—व्याकरणके अनुसार अक्षर, पद, मात्रादिका शुद्धतापूर्वक पठन-पाठन करना, छन्दशास्त्रके अनुसार विवक्षित पद्यको उसी छन्दके

राग (चाल या ढाल) से पढ़ना ग्रन्थाचार है। ग्रन्थके वास्तविक शुद्ध अर्थके निश्चय करनेको अर्थाचार कहते हैं। मूल ग्रन्थ और उसका अर्थ इन दोनोके शुद्ध पठन-पाठन और अभ्यास करनेको उभयाचार कहते हैं। शास्त्र-अध्ययनके लिए जिस समयको शास्त्रकारोने अकाल कहा है, उस समयको छोड़कर उत्तम योग्य कालमें पठन-पाठन कर ज्ञानके विचार करनेको कालाचार कहते हैं। शुद्ध जलसे हाथ-पांव धोकर निर्जन्तु, स्वच्छ एवं निरुपद्रव स्थानमें पद्मासनसे बैठकर विनय-पूर्वक शास्त्राभ्यास, तत्त्व-चिन्तन आदि करनेको विनयाचार कहते है। धारणा-सहित ज्ञानकी आराधना करनेको उपधानाचार कहते हैं। अर्थात् जो कुछ पढ़े, उसे भूल न जावें, याद रखें। ज्ञान और ज्ञानके साधन शास्त्र, पोथी, गुरु आदिका पूर्ण सम्मान करना बहुमानाचार है। जिस गुरुसे या जिस शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त करें उनके नाम न छिपानेको अनिन्हवाचार कहते है। इन आठ अंगोंको धारण कर उनका भली-भाँति पालन करते हुए ही सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना चाहिए, तभी वह स्थिर रहता हैं और यथार्थ फलको देता है ॥१२१॥

अब ग्रन्थकार ज्ञानाराधनाकी शुद्धिका फल और उसका उपाय कहते हैं--

> सम्यग्ज्ञान-विशुद्धया स्यात्स्वा-यन्त-त्रादिदीपकः ।
> अवबोधोऽखिलः स्यातां पूर्णे संवर-निर्जरे ॥१२२॥
> मत्वेति सार-तत्त्वार्थ-पदार्थागम-चिन्तनैः ।
> परमेष्ठि-जप-ध्यानैर्ज्ञानशुद्धिं करोत्यसौ ॥१२३॥

सम्यग्ज्ञानकी विशुद्धिसे स्वतत्व और परतत्व आदिके प्रकाश करने—जाननेके लिए दीपकस्वरूप समस्त अवबोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है तथा संवर और निर्जराकी पूर्णता होती है। ऐसा निश्चय कर —जानकर सारभूत तत्वार्थ, पदार्थ और आगमके चिन्तन—मननसे तथा परमेष्ठीके जप और ध्यानसे वह क्षपक ज्ञानकी शुद्धि करता है ॥१२२,१२३॥

अब ग्रन्थकार चारित्राराधनाका उपदेश देते हैं—

यत्नान्महाव्रतान् गुप्तीः समितीश्चाखिला विदः ।
प्रतिपाल्य प्रकुर्वन्तु विशुद्धिं चरणस्य भोः ॥१२४॥
चारित्रस्य विशुद्धया स्युः सम्यग्ज्ञान-तपांस्यलम् ।
समर्थानि सतां कर्तुं संवरं निर्जरां शिवम् ॥१२५॥
विदित्वेति स्वसिद्धयर्थं संन्यासस्थाः शिवार्थिनः ।
चारित्रस्य परां शुद्धिं कुर्वीध्वं निःप्रमादतः ॥१२६॥

भो ज्ञानी क्षपक-जनो ! आप लोग पांचों महाव्रतों, पांचों समितियों और तीनों गुप्तियोंका विधिवत् पालन करके चारित्रकी विशुद्धिको करें। क्योंकि चारित्रकी विशुद्धिसे ही सम्यग्ज्ञान और तपकी आराधना सज्जनोंके अच्छे प्रकारसे कर्मोंका संवर और निर्जरा करके मोक्षकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होती है। ऐसा जानकर संन्यासमें स्थित सभी शिवार्थी जन स्व-सिद्धिके लिए प्रमादरहित होकर अपने चारित्रकी परम विशुद्धिको करें ॥१२४,१२५,१२६॥

विशेषार्थ— हिंसापापका मन-वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनासे यावज्जीवनके लिए त्याग करना अहिंसा-महाव्रत है। सर्वप्रकारके असत्य वचनोंका त्याग करना सत्य-महाव्रत है। सर्वप्रकारकी चोरीका त्याग करना, यहाँ तक कि गिरी-पड़ी या रखी हुई किसी दूसरेकी वस्तुका स्पर्श तक भी नहीं करना अचौर्य-महाव्रत है। सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके सेवनका मन-वचन-कायसे त्याग करना ब्रह्मचर्य-महाव्रत है। सर्वप्रकारके परिग्रहका त्याग करना और अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखना अपरिग्रह-महाव्रत है। इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापोंके यावज्जीवन त्याग करनेसे पाँच महाव्रतरूप सकल-चारित्र उत्पन्न होता है। इन पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके लिए पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंका पालना आवश्यक हैं। जमीनको देख-शोध कर प्रासुक मार्गपर चलना और रात्रिमें गमन नहीं करना ईर्या-समिति है। वचनकी सावधानी रखना और

हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है। दिनमें एक बार निर्दोष आहारके ग्रहण करनेको एषणा-समिति कहते हैं। ज्ञान, सयम और शौचके उपकरण पुस्तक, पिच्छी और शास्त्रादिको देख-भाल कर उठाना और रखना आदाननिक्षेपण-समिति है। निर्जन्तु स्थानपर मल-मूत्र क्षेपण करना व्युत्सर्ग-समिति है। इन पांचों समितियोके परिपालनसे पांचों महाव्रतोमें निर्मलता और दृढ़ता आती है। मनको वशमें रखना—अपने मनको आर्त्त और रौद्र ध्यानरूप नही होने देना मनोगुप्ति है। वचनको वशमें रखना—मौन धारण करना वचनगुप्ति है। कायको वशमें रखना कायगुप्ति है। इस प्रकार अहिंसादि पाँच महाव्रतों, ईर्यादि पाँच समितियो और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंका पालन करना हो मुनियोंका सकल-चारित्र है। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि, चारित्रकी शुद्धि और तपकी आराधनासे संवर और निर्जरा विपुल परिमाणमें होते हैं। योगको चंचलतासे आत्माके भीतर जो प्रतिसमय अनन्त कर्मपरमाणु आते रहते हैं, उनके रोक देनेको संवर कहते हैं। तपोबलसे संचित कर्मोंके दूर करनेको निर्जरा कहते हैं ॥१२४,१२५,१२६॥

अब ग्रन्थकार तप-आराधनाकी शुद्धिका उपदेश देते हैं—

चित्तसंक्लेश-दुर्ध्यान-लेश्याद्यास्रव-रोधनैः ।
तपोविशुद्धिमात्मार्थं कुर्वन्तु क्षपकास्तराम् ॥१२७॥
विशुद्धया तपसां बह्व्यो जायन्ते त्रिविधर्द्धयः ।
नश्यन्त्यसंख्यकर्माणि पञ्चाक्षाणि तपस्विनाम् ॥१२८॥
तपोभिर्दुःख-रोगान्तस्तपोभिः स्वार्थसिद्धयः ।
तपोभिस्त्रिजगल्लक्ष्म्यस्तपोभिर्मुक्तिवल्लभा ॥१२९॥
इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं स्वर्मोक्ष-सिद्धये ।
सर्वशक्त्या प्रकुर्वन्तु तपःशुद्धिं तपोधनाः ॥१३०॥

क्षपक-जन अपने आत्म-कल्याणके लिए चित्त-संक्लेश, दुर्ध्यान और दुर्लेश्या आदि आस्रवके कारणोंको रोककर तपकी परमविशुद्धिको

करें। क्योंकि तपकी विशुद्धिसे तपस्वियोंको बहुत-सी, विविध प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं और असंख्य कालके संचित अगणित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा पाँचों इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। तपोंसे सर्व-प्रकारके दुःखों और रोगोंका अत हो जाता है, तपोंसे सभी अभीष्ट अर्थकी सिद्धियाँ होती हैं, तपोंसे तीनों जगतकी लक्ष्मियाँ प्राप्त होती हैं और तपोंसे ही मुक्तिवल्लभा समीप आती है। इस प्रकार तपोंका ऐसा प्रकृष्ट फल जानकर तप ही जिनका धन है, ऐसे संन्यासस्थ साधुजन स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिए अपनी सर्वशक्तिसे तपकी शुद्धि करें ॥१२७,१२८,१२९,१३०॥

विशेपार्थ—आर्त्त और रौद्ररूप ध्यानको दुर्ध्यान कहते हैं। इन्द्रियोंके अभीष्ट विषयोंकी प्राप्तिके लिए तथा अनिष्ट विषयोंकी निवृत्तिके लिए मनमें जो निरन्तर चिन्तन होता है, उसे आर्त्त ध्यान कहते है। हिंसादि पंच पापरूप और क्रोधादि कषायरूप परिणामोंकी प्रवृत्तिको रौद्र ध्यान कहते है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्याको दुर्लेश्या कहते हैं। दुर्लेश्या वाले जीवके परिणाम सदा मलिन, उग्र कषायरूप और विषय-सेवनकी उग्र प्रवृत्तिरूप रहते हैं। आदिपदसे मिथ्यात्व, अविरति और कषायका ग्रहण किया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन कारणोंसे चित्तमें संक्लेश उत्पन्न हो, उन सबका परित्याग करके हे क्षपक! तू निर्मल भावोंसे तपकी आराधना कर ॥१२७,१२८,१२९,१३०॥

अब ग्रन्थकार धर्मध्यानमें निरत रहनेके लिए क्षपकको उपदेश देते हैं—

धर्मध्यानाय सोऽत्यर्थं ध्यायेदेकाग्र-चेतसा ।
आज्ञाविचयनामादि-धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥१३१॥

वह क्षपक धर्मध्यानकी सिद्धिके लिए अत्यत एकाग्रचित्तसे आज्ञा-विचय आदि चारों प्रकारके धर्मध्यानको ध्यावे ॥१३१॥

विशेषार्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। जिनेंद्र-कथित तत्त्वोंका चिन्तवन करना और जिन-आज्ञाके

प्रचारका विचार करना आज्ञाविचय-धर्मध्यान है। उन्मार्गपर चलने वाले प्राणी कैसे सन्मार्गपर चलें, इस प्रकारसे उनके कष्ट दूर करनेके लिए विचार करना अपायविचय-धर्मध्यान है। कर्मोंके नाना प्रकारके फलरूप परिपाकका विचार करना विपाकविचय-धर्मध्यान है और लोकके आकार, स्वभाव आदिके चिन्तवन करनेको संस्थान-विचय धर्मध्यान कहते है ॥१३१॥

अब परिणाम-विशुद्धिके लिए ग्रन्थकार वैराग्यवर्द्धक भावनाएँ भाते रहनेका उपदेश देते हैं—

वैराग्यं त्रिविधं ध्यानी भावयेद् राग-हानये ।
संसार-देह-भोगेषु प्रत्यहं मुक्ति-कारणम् ॥१३२॥
वैराग्य-वृद्धये चित्ते सोऽनुप्रेक्षा द्वि-षड्विधाः ।
चिन्तयेत्क्षपको नित्यमनित्याशरणादिकाः ॥१३३॥

धर्मध्यान-निरत वह क्षपक संसार, देह और भोगोंमें लग रहे राग-भावको दूर करनेके लिए प्रतिदिन मुक्तिके कारणभूत तीन प्रकारके वैराग्यकी भावना करे। और वैराग्यकी वृद्धिके लिए वह क्षपक अपने चित्तमें नित्य ही अनित्य-अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करे ॥१३२,१३३॥

विशेषार्थ—वैराग्य-भावकी दृढ़ता और समभावरूप सुखकी प्राप्तिके लिए बारह भावनाओंका इस प्रकार विचार करे—

(१) अनित्य-भावना—संसारके सर्व पदार्थ विनश्वर है। उनमें यदि कोई अविनाशी है तो मेरा आत्मस्वरूप ही अविनश्वर है।

(२) अशरण-भावना—संसारमें कोई किसीको शरण देनेवाला नहीं है, न कोई मृत्युसे बचाने वाला है। यदि कोई दुःखोंसे बचाने वाला है तो एकमात्र ज्ञान-दर्शनमय मेरा आत्मा ही मुझे बचा सकता है।

(३) संसार-भावना—इस चतुंगतिरूप संसारमें कहीं भी रंचमात्र सुख नहीं है, ऐसा विचार करना संसार-भावना है।

(४) **एकत्व-भावना**—इस संसारमें जीव अपने किये हुए कर्मोके शुभ-अशुभ फलको अकेला ही भोगता है, अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरणको प्राप्त होता है, ऐसा विचार करना एकत्व-भावना है।

(५) **अन्यत्व-भावना**—जब शरीर ही आत्मासे सर्वथा भिन्न है तब पुत्र-मित्र-कलत्र आदि तो कैसे अपने हो सकते हैं, ऐसा विचार करना अन्यत्व-भावना है।

(६) **अशुचि-भावना**—यह देह अत्यन्त अशुचि है, मल-मूत्र, हाड़-मांस, रक्त आदि घृणित पदार्थोंसे भरा हुआ है, इस प्रकारसे शरीरकी अशुचिताका विचार करना अशुचि-भावना है।

(७) **आस्रव-भावना**—मन-वचन कायकी चंचलतासे कर्मोंका आस्रव होता है, यह योगकी चंचलता ही सारे दुःखोंका कारण है, इसलिए मुझे आस्रव रोकनेका प्रयास करना चाहिए, ऐसा विचार करना आस्रव-भावना है।

(८) **संवर-भावना**—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयसे ही कर्मोंका आना रुकता है, इसलिए मुझे गुप्ति, समिति आदिको धारण करनेमें सतत जागरूक रहना चाहिए, ऐसा विचार करना संवर-भावना है।

(९) **निर्जरा-भावना**—संचित कर्मोंकी निर्जरा तपके द्वारा ही संभव है, अतः मुझे तपश्चरण करके कर्मोंको दूर करना चाहिए, ऐसा विचार करना निर्जरा-भावना है।

(१०) **लोक-भावना**—तीनों लोकोंके भीतर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है, जहाँ पर इस जीवने अनन्तबार जन्म-मरण न किया हो, ऐसा विचार करना लोक-भावना है।

(११) **बोधिदुर्लभ-भावना**—मनुष्य-भव, उत्तम कुल और सम्यग्ज्ञानरूप बोधिकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। वह मुझे पुण्यके उदयसे मिली है, इसलिए मुझे वह व्यर्थ नहीं खोना चाहिए, ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभ-भावना है।

(१२) **धर्म-भावना**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्तिसे ही जीव संसार-सागरसे पार होता है, मुझे इस धर्मकी प्राप्ति हुई है, इसलिए उसकी रक्षामें सदा सावधान रहना चाहिए, ऐसा विचार करना धर्म भावना है॥१३२-१३३॥

अब ग्रन्थकार क्षपकको जिनवचनामृत-पान करते रहनेका भी उपदेश देते हैं–

आगमार्थ-सुधा-पानं क्वचित्करोति संयमी ।
जन्म-मृत्यादि-दाह-घ्नं विश्व-शर्माऽऽकरं परम् ॥१३४॥

जब कभी रोगादिकी वेदना शान्त हो और चित्त प्रसन्न हो, तब वह संयमी क्षपक जन्म-जरा-मृत्यु आदि अनादिकालीन रोग-जनित दाहका विनाश करनेवाले और समस्त—अनन्त परमसुखके देनेवाले ऐसे आगमके अर्थ-चिन्तवनरूप सुधाका अर्थात् जिनवचनामृतका पान करे ॥१३४॥

भावार्थ—क्षपकको चित्त-शान्तिके समय जिनोक्त तत्वोंका चिन्तवन करते रहना चाहिए।

अब ग्रन्थकार दश प्रकारके धर्मको धारण करनेका उपदेश देते हैं—

क्षमाद्यैर्दशभिर्धर्मलक्षणैः स्थापयेद्धृदि ।
दशलाक्षणिकं धर्मं धर्मी धर्माय मोक्षदम् ॥१३५॥

वह धर्मका आराधक क्षपक धर्मकी प्राप्तिके लिए मोक्षके देने वाले दशलाक्षणिक धर्मको क्षमादि दश प्रकारके धर्म-लक्षणोंके द्वारा—विषय-कषायोंको दूर करनेके उपायोंसे अपने हृदयमें धारण करे ॥१३५॥

विशेषार्थ—क्रोधादिके निमित्त मिलनेपर क्षपक उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका विचार करे। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

किसी दूसरेके द्वारा मारण-ताड़न आदि किये जानेपर चित्तमें कलुषता या विकारभाव नहीं उत्पन्न होने देना क्षमा-धर्म है। दूसरेके द्वारा अपना अपमान किये जाने पर भी किसी प्रकारका अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है। मन, वचन और काय इन तीनों योगोंकी कुटिलतारहित सरल परिणति रखना आर्जव-धर्म है। भोग-उपभोगकी वस्तुओंमें, लालसा नहीं रखना, यहाँ तक कि

जीनेकी भी लालसा नहीं रखना शौच-धर्म है। अपने धर्मका निश्छल पालन करना और व्रत-भंग आदिको गुरुके सम्मुख सचाईसे प्रकट करना सत्य-धर्म है। इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन रहना और षट्कायिक जीवोंकी रक्षा करना संयम-धर्म है। अनशन आदि बाह्य तपोंको और स्वाध्याय-ध्यानादि अंतरंग तपोंको अपनी शक्ति न छिपाकर पालन करना तप-धर्म है। बाहरी परिग्रहादिको और अंतरंगके विकारी भावोंका छोड़ना त्याग-धर्म है। अपने शरीर और पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादिसे ममत्वभावका त्यागकर आत्माके एकाकीपनकी भावना करना आकिञ्चन्य-धर्म है। स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका त्याग करना, भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करना, राग-वर्द्धक-विकथाओंका त्याग करना और शुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तवन करना ब्रह्मचर्य-धर्म है। इन दश प्रकारके धर्मोंका चिन्तवन करनेसे क्षपकके परिणामोंमें स्थिरता आती है और रत्नत्रय-धर्मकी अभिवृद्धि होती है ॥१३५॥

महाव्रत-विशुद्ध्यर्थं पञ्चविंशति-भावनाः ।
भावयेत्सर्वदा योगी महाव्रत-विशुद्धिदाः ॥१३६॥

वह संन्यासस्थ योगी अपने महाव्रतोंकी विशुद्धिके लिए महाव्रतोंको विशुद्ध करनेवाली पच्चीस भावनाओंको सर्वदा ही भाता रहे ॥१३६॥

विशेषार्थ—अहिंसाव्रतकी शुद्धिके लिए क्षपक मनको वशमें रखे, वचनका संयम रखे, गमनागमनकी शुद्धि रखे, ज्ञान और संयम के उपकरणोंको सावधानीसे उठावे और रखे तथा अपने खान-पानको सूर्यसे प्रकाशित स्थानमें करे। ये अहिंसा-व्रतकी पाँच भावनाएं हैं।

सत्यव्रतकी रक्षाके लिए क्रोधका त्याग करे, लोभका त्याग करे, भयका त्याग करे, हास्यका त्याग करे और आगमानुमोदित हित-मित-प्रिय वचन बोले। ये सत्य-व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

अचौर्य-व्रतकी स्थिरताके लिए शून्य भवनमें रहे, मालिकके द्वारा छोड़े गये मकानमें रहे, उसमें रहनेके लिए आनेवाले दूसरे किसी बन्धुको नहीं रोके,

भिक्षा या गोचरीकी शुद्धि रखे और किसी भी साधर्मी बन्धुसे कलह—विसंवाद आदि न करे। ये अचौर्य-व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

ब्रह्मचर्य-व्रतकी विशुद्धिके लिए स्त्रियोंकी राग बढ़ाने वाली कथाओंको नहीं सुने, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको नहीं देखे, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करे, गरिष्ठ भोजन-पान न करे और अपने शरीरका संस्कार नहीं करे। ये ब्रह्मचर्य-व्रतकी पाँच भावनाएँ है।

अपरिग्रह-व्रतकी निर्मलताके लिए पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग-भावका और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष-भावका त्याग करे। इस प्रकार पांचों इन्द्रियोंके पांचों विषयोंमें राग-द्वेषका त्याग करनेसे इस व्रतकी पांच भावनाएँ हो जाती हैं ॥१३६॥

तीर्थकृन्नामकर्तृणि कारणान्येष पोडश।
जिनेंद्र-गुण-सिद्ध्यर्थं दृक्-शुद्ध्यादीनि संस्मरेत् ॥१३७॥

और उस क्षपकको चाहिए कि जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी सिद्धिके लिए वह सदा ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करानेवाली दृग्विशुद्धि आदि सोलह-कारण-भावनाओंका अपने चित्तमें स्मरण करता रहे ॥१३७॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत सोलह-कारण-भावनाएं और उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) दर्शन-विशुद्धि—पहले बतलाये हुए २५ दोषोंसे रहित निर्मल सम्यग्दर्शनका आठों अंगोंके साथ धारण करना।

(२) विनय-सम्पन्नता—आठ मदोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपकी तथा इनको धारण करनेवालोंकी विनय करना।

(३) शील-व्रतानतिचार—अहिंसादि पंच व्रतोंको तथा दिग्व्रतादि सप्त शीलोंको अतिचाररहित निर्दोष पालन करना।

(४) आभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग—निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना और आत्म-स्वरूपके चिन्तनमें सदा उपयुक्त रहना।

(५) **आभीक्ष्ण-संवेग**—निरन्तर संसारसे भयभीत रहना और शरीर-भोगादिसे विरक्तिकी भावना करना।

(६) **शक्तितस्त्याग**—शक्तिके अनुसार समीपस्थ परपदार्थोंका त्याग करना तथा ज्ञानदान, अभयदान आदि देना।

(७) **शक्तितस्तप**—शक्तिके अनुसार अनशन आदि बाह्य तपोंको धारण करना तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तपोंका पालना।

(८) **साधु-समाधि**—अपने चित्तको सदा समाधानरूप रखना, दूसरेके चित्तका समाधान करना और संकल्प-विकल्प नहीं करना।

(९) **वैयावृत्त्य करना**—आचार्य, उपाध्याय, विद्यागुरु, दीक्षागुरु, वयोवृद्ध, रोगी, अपंग, असमर्थ साधुजनोंकी सेवा-टहल आदि करना।

(१०) **अर्हद्भक्ति**—जिनेन्द्रदेवकी पूजा-भक्ति करना, उनके गुणोंका चिन्तवन करना, नामोंका स्मरण करना।

(११) **आचार्य-भक्ति**—आचार्यकी आज्ञाका सविनय पालन करना, उनके आनेपर खड़े होना, उनके पीछे चलना, उनमें श्रद्धा-भाव रखना।

(१२) **बहुश्रुत-भक्ति**—द्वादशांगके पाठी या विशिष्ट ज्ञानी उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करना, उनसे विनयपूर्वक पढ़ना।

(१३) **प्रवचन-भक्ति**—जिनवाणीकी भक्ति करना, उसका प्रचार करना, उसे बहुमान-पूर्वक हृदयमें धारणा करना।

(१४) **आवश्यकाऽपरिहाणि**—अपने पदके अनुसार मुनि या श्रावकके सामायिक देववन्दनादि छह आवश्यकोंको नियत समयपर नियमसे करना, उनका कभी व्यतिक्रम नहीं करना। सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये मुनियोंके छह आवश्यक हैं। देव-पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावकके छह आवश्यक हैं।

(१५) **मार्ग-प्रभावना**—संसारमें सन्मार्गका प्रचार करना, जैनधर्मकी प्रभावना करना और अपनी आत्माको रत्नत्रय-तेजसे प्रभावित करना।

(१६) **प्रवचन-वात्सल्य**—प्रकृष्ट वचनवाली महापुरुषोंमें सहज—स्वाभाविक अनुराग रखना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना और उनके साथ निश्छल व्यवहार करना।

इन सोलह भावनाओंका निरन्तर चिन्तवन करनेवाला मनुष्य तीर्थंकर नाम-कर्मका उपार्जन करता है।

मूलाह्वयान् गुणान् सर्वान् सर्वेषां मूलकारणान् ।
तपोघोर-तनूत्सर्गादि-नानोत्तरसद्गुणान् ॥१३८॥
चतुर्भिरधिकाशीति-लक्ष-संख्यान् महागुणान् ।
अष्टादश-सहस्राणि शीलानि प्रवराणि च ॥१३९॥
आतापनादि-योगादीन्[१] सर्वदा शुभ-भावनाः ।
त्रिशुद्धया भावयेत्सर्वाः क्षपकस्तद्गुणाप्तये ॥१४०॥

और वह क्षपक मुक्तिके मूलकारणभूत तथा सभी उत्तरगुणोंके मूल आधाररूप सभी अर्थात् अट्ठाईस मूलगुणोंको, घोर तप, कायोत्सर्गादि नाना प्रकारके सद्गुणोंको, चौरासी लाख उत्तरगुणोंको, सर्वश्रेष्ठ अट्ठारह हजार शीलोंको, आतापनादि योगोंको और सभी शुभ भावनाओंको उन-उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मन-वचन कायकी शुद्धि-पूर्वक सर्वदा भाता रहे ॥१३८,१३९,१४०॥

विशेषार्थ—मुनिधर्मके आधारभूत मूलगुण अट्ठाईस होते है और उत्तर गुण चौरासी लाख होते है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—हिंसादि पांच पापोके त्यागरूप पाच महाव्रत, होते है—१ अहिंसा-महाव्रत, २ सत्य-महाव्रत, ३ अचौर्य-महाव्रत, ब्रह्मचर्य-महाव्रत और ५ अपरिग्रह-महाव्रत। पांच समितियां—१ ईर्या-समिति, २ भाषा-समिति, ३ एषणा-समिति, ४ आदान-निक्षेपण-समिति

[१]अल्लोट्टुणं च रादो अण्हाणमदन्तधोवणं चेव ।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ (भगवती आराधना गा० ३२)
रात्रि-जागरण करना, स्नान नहीं करना, दन्तधावन नही करना, ग्रीष्म कालमें आतापनयोग, वर्षा-कालमें वृक्षमूल-अवस्थान और शीत-कालमें चतुष्पथ-अवस्थान आदि करना कायक्लेश तप है।

और ५ व्युत्सर्ग-समिति । पंच-इन्द्रिय-निरोध—१ स्पर्शनेन्द्रिय-जय, २ रसनेन्द्रिय-जय, ३ घ्राणेन्द्रिय-जय, ४ चक्षुरिन्द्रिय-जय, और ५ श्रोत्रेन्द्रिय-जय । छह आवश्यक—१ सामायिक, २ वन्दना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण, ५ स्वाध्याय और ६ कायोत्सर्ग । शेष सप्त गुण—१ केश लुंचगुण, २ आचेलक्य (नग्नता) गुण, ३ अस्नान गुण, ४ भूशयन गुण, ५ स्थिति-भोजन गुण, ६ अदन्तधावन गुण, और ७ एक-भक्त गुण । इस प्रकार पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक और सप्त शेष गुण, ये सब मिलाकर साधुके २८ मूलगुण होते हैं ।

मुनियोंके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं । उनका खुलासा इस प्रकार है—१ हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ कुशील, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० रति, ११ अरति, १२ भय, १३ जुगुप्सा, १४ मनोदुष्टता, १५ वचनदुष्टता, १६ कायदुष्टता, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनत्व, २० अज्ञान और २१ इन्द्रिय-विषय, इनके निग्रहरूप २१ गुण होते हैं । इन इक्कीस गुणोका पालन अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचाररहित करनेसे (२१ × ४ = ८४) चौरासी गुण हो जाते हैं। इन्हे आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान इन दश शुद्धियोंसे गुणा करनेपर (८४ × १० = ८४०) आठसौ चालीस गुण हो जाते है । इन्हें पांचों इन्द्रियोंके निग्रह और एकेन्द्रियादि पांच प्रकारके जीवोंकी रक्षारूप दश प्रकारके संयमसे गुणा करनेपर (८४० × १० = ८४००) चौरासी-सौ गुण हो जाते है । इन्हें आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी इन आलोचना-सम्बन्धी दश दोषोके परिहारसे गुणित करनेपर (८४०० × १० = ८४०००) चौरासी हजार उत्तरगुण हो जाते हैं । इन्हें उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य; इन दश धर्मोंसे गुणित करनेपर (८४०००×१० = ८४०००००) चौरासी लाख उत्तरगुण हो जाते हैं ।

ग्रन्थकारने जिन अट्ठारह हजार शीलके भेदोंकी सूचना की है, उनका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अशुभ मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको शुभ मन-वचन-कायके

द्वारा रोकनेसे (३ × ३ = ९) नौ भेद होते हैं। इन नौ भेदोंको आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप चारों संज्ञाओंके परित्यागसे गुणित करनेपर (९ × ४ = ३६) छत्तीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके निरोधसे गुणित करनेपर (३६ × ५ = १८०) एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हे पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंकी रक्षाद्वारा गुणित करनेसे (१८० × १० = १८००) अट्ठारह-सौ भेद हो जाते हैं। इन्हें उत्तम क्षमादि दश धर्मोंसे गुणित करनेपर (१८००× १० = १८०००) अट्ठारह हजार शीलोंके भेद हो जाते हैं। कुछ आचार्योंके मतसे अट्ठारह हजार शीलोंके भेद अन्य प्रकारसे भी होते हैं—देवी, मनुष्यनी और तिर्यञ्चनी स्त्रीका मन-वचन-कायसे त्याग करनेपर (३×३ = ९) नौ भेद होते हैं। इन्हें कृत-कारित-अनुमोदनासे गुणित करनेपर (९ × ३ = २७) सत्ताईस भेद होते है। इन्हे पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषयोंके त्यागसे गुणा करनेपर (२७×५ = १३५) एकसौ पैंतीस भेद हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य और भावसे गुणित करनेपर (१३५ × २ = २७०) दोसौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हें आहारादि चार संज्ञाओंके त्यागसे गुणा करनेपर (२७०×४ = १०८०) एक हजार अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हें अनन्तानुबन्धी-क्रोधादि सोलह कषायोंके त्यागसे गुणित करनेपर (१०८०×१६ = १७२८०) सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। ये सब भेद चेतन स्त्री-सम्बन्धी हैं। अचेतन स्त्री काष्ठ, पाषाण और लेपके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। इन तीनोंका मन और कायसे त्याग करनेपर (३×२ = ६) छह भेद होते है। उनका कृत-कारित-अनुमोदनासे त्याग करनेपर (६×३ = १८) अट्ठारह भेद होते हैं। उन्हें स्पर्श आदि पाँच इन्द्रिय-विषयोंके त्यागसे गुणा करनेपर (१८ × ५ = ९०) नब्बे भेद होते है। उन्हें द्रव्य और भावसे गुणा करनेपर (९०×२ = १८०) एक सौ अस्सी भेद हो जाते है। उन्हें क्रोधादि चार कषायोंके त्यागसे गुणा करनेपर (१८० × ४ = ७२०) सात सौ बीस भेद अचेतन स्त्रीके त्याग-सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार चेतन-स्त्री-त्याग-सम्बन्धी १७२८० भेदोंमें अचेतन-स्त्री-त्याग-सम्बन्धी ७२० भेदोंको मिलानेपर कुल (१७२८० + ७२० = १८०००) अट्ठारह हजार शीलोंके भेद हो जाते हैं।

तपके बारह भेद हैं। उनके नाम और स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अनशन-तप—चारों प्रकारके आहारका त्याग करना।

(२) अवमोदर्य-तप—भरपेट भोजन न करना।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान-तप—भिक्षार्थ जाते समय गली, घर आदिका नियम लेना।

(४) रसपरित्याग-तप—शक्तिके अनुसार घी, दुग्ध आदि छहों रस या दो-चार रसोंका त्याग करना।

(५) विविक्तशय्यासन-तप—एकान्त स्थानमें उठना-बैठना और शयन आदि करना।

(६) कायक्लेश-तप—वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे खड़े होना, शीत ऋतुमें चौराहे पर खड़े होना और ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतोंके शिखरपर खड़े होकर शारीरिक कष्ट सहन करना। यही तीनों ऋतुओंके तीन योग हैं। ये छह बहिरंग तप हैं। अन्तरंग तपके भी छह भेद है, जो इस प्रकार हैं—

(७) प्रायश्चित्त-तप—लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना, अपनी आलोचना, निन्दा और गर्हा करना।

(८) विनय-तप—अभिमानका त्यागकर रत्नत्रय और उसके धारकोंकी विनय करना।

(९) वैयावृत्त्य-तप—रोगी मुनि और आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनोंकी सेवा-टहल करना।

(१०) स्वाध्याय-तप—शास्त्राभ्यास करना, तत्वोंका चिन्तवन करना, उपदेश देना आदि।

(११) व्युत्सर्ग-तप—सर्व परद्रव्योंसे ममत्व भावका त्याग करना।

(१२) ध्यान-तप—आर्त्त-रौद्र परिणामोंका त्याग करके धर्म्य और शुक्ल-ध्यानमें संलग्न रहना।

इसके अतिरिक्त सर्वतोभद्र, रत्नावली, कनकावली आदि १०८ व्रतोंका आचरण करे। अनित्यादि द्वादश भावनाओंका चिन्तवन करे और पाँचों व्रतोंकी जो २५ भावनाएँ पहले बतला आये हैं उनका चिन्तवन करे ॥१३८,१३९,१४०॥

दृढ-संहननतो योगी स्थिरं कृत्वा मनोऽनघम् ।
ध्यायेच्छुक्लं महाध्यानं क्वचिच्च परमेष्ठिनाम् ॥१४१॥
तत्प्राप्त्यै निर्ममत्वादीनिमान् स भावयेद्धृदि ।
कायादौ ममतां त्यक्त्वा निर्ममत्व-सुखाप्तये ॥१४२॥

यदि संन्यासस्थ योगी दृढसंहननवाला हो, अर्थात् वज्रवृषभनाराचादि तीन उत्तम संहननोंका धारक हो, तो वह मनको स्थिर करके निर्मल शुक्ल नामक महाध्यानका चिन्तवन करे और उसके अभावमें कचित्-कदाचित् पंच परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण करे। इस शुक्लध्यानकी प्राप्तिके लिए तथा निर्ममतारूप निराकुल सुखकी प्राप्तिके लिए वह क्षपक शरीरादिमें ममताको छोड़कर निर्ममत्व आदि इन वक्ष्यमाण भावनाओंकी हृदयमें इस प्रकार भावना करे ॥१४१,१४२॥

एकोऽहं सर्वदा नित्यो दर्शन-ज्ञान-लक्षणः ।
जन्म-मृत्यु-जरातीतः परद्रव्यातिगो गुणी ॥१४३॥
मत्तो येऽत्रापरे द्रव्य-देहाक्ष-श्री-गृहादयः ।
स्वार्थिनः स्वजनाद्याश्च कर्मजास्तेऽखिला न मे ॥१४४॥

दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग लक्षणवाला मैं एक हूँ, सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा-मृत्युसे रहित हूँ, पर-द्रव्योंसे भिन्न हूँ और अनन्त गुणोंका भण्डार हूँ। अन्य दूसरे जितने भी द्रव्य, देह, इन्द्रिय, लक्ष्मी और गृहादि अचेतन पदार्थ हैं तथा स्वार्थी स्वजन-परिजन आदि चेतन प्राणी हैं, वे सब कर्म-जनित है, मेरेसे सर्वथा भिन्न एवं पर-स्वरूप हैं, वे मेरे कदाचित् भी नहीं हैं ॥१४३,१४४॥

यः कायोऽचेतनो निन्द्यः क्षण-ध्वंसी दुराश्रयः ।
चैतन्य-ज्ञानरूपस्याव्ययस्य सोऽत्र मे कथम् ॥१४५॥

भिन्न-भिन्नस्वभावा ये स्त्र्याद्याः स्वबन्धवोऽखिलाः ।
स्वकर्मवशतो जातास्ते मदीयाः कुतोऽत्र भोः ॥१४६॥

यह जो शरीर है, वह अचेतन है, निंद्य है, क्षणक्षयी है और दुराश्रय है—कुत्सित मल-मूत्रादिका आश्रय एवं दुःखोंका आधार है, वह चैतन्य-ज्ञानस्वरूप अव्ययी—अविनाशी मेरे आत्माका आधार कैसे हो सकता है ? और हे आत्मन् ! अपने-अपने कर्मोदयसे उत्पन्न हुए, भिन्न-भिन्न स्वभाववाले ये जो स्त्री-पुत्रादि हैं तथा समस्त स्वबन्धु-कुटुम्बीजन यहाँ मुझे प्राप्त हुए हैं, वे मेरे कैसे हो सकते हैं ? इसलिए शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बीजनादिसे तू मोहको छोड़कर निर्ममत्व-भावमें रत हो ॥१४५,१४६॥

किमत्र बहुनोक्तेन मनो-वाक्काय-खादयः ।
विश्वेऽर्था विधिजा येऽत्र ते वाऽन्ये मे न जातुचित् ॥१४७॥
इत्येवं निर्ममत्वादीन् परद्रव्येषु सन्ततम् ।
भावयेत् स शरीराऽक्षादिषु सद्-ध्यान-सिद्धये ॥१४८॥

हे क्षपक ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है, सर्व कथनका सार यही है कि यहाँ पर शरीरके साथ जो ये मन, वचन और इन्द्रियादि भी तुझे प्राप्त हुए हैं तथा अन्य सर्व पदार्थ जो तुझे मिले हैं, वे सब कर्म-जनित हैं, तेरे कदाचित् भी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार हे क्षपक ! हे योगिन् ! तू सद्-ध्यानकी प्राप्तिके लिए इन पर-द्रव्योंमें तथा शरीर और इन्द्रियादिकमें सदा निर्ममत्व आदिकी भावना कर ॥१४७,१४८॥

प्रशस्त-ध्यान-लेश्यार्थं ततो नैजात्म्य-भावनाः ।
इमा भाव-विशुद्ध्याप्त्यै भावयेद् भव-नाशिनीः ॥१४९॥

इस प्रकार शरीर, स्त्री-पुत्रादिसे तथा धन-गृहादिसे ममत्व-भावको दूर करनेके पश्चात् वह क्षपक प्रशस्त ध्यान और प्रशस्त लेश्याकी सिद्धिके लिए तथा भाव-विशुद्धिकी प्राप्तिके लिए संसारका मूलोच्छेद करनेवाली इन वक्ष्यमाण नैजात्म्य-भावनाओंको भावे ॥१४९॥

भावार्थ—जो भावनाएँ एकमात्र निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें सहायक होती हैं, पर-पदार्थोंसे और शरीरसे भी मोहको छुड़ाती हैं तथा भव-बन्धन काटती हैं, उन्हें नैजात्म्यभावना कहते हैं ॥१४९॥

सिद्धोऽहं सिद्धरूपोऽहं गुणैः सिद्ध-समो महान् ।
त्रिलोकाग्र-निवासी चारूपोऽसंख्यप्रदेशवान् ॥१५०॥

शुद्धोऽहं विशुद्धोऽहं निःकर्माऽहं भवातिगः ।
मनोवाकाय-दूरोऽहं चात्यक्तोऽहं गत-क्रियः ॥१५१॥

अमूर्त्तो ज्ञानरूपोऽहमनन्त-गुण-तन्मयः ।
अनन्त-दर्शनोऽनन्त-वीर्योऽनन्त-सुखात्मकः ॥१५२॥

अनन्त-ज्ञान-नेत्रोऽहमनन्त-महिमाऽऽश्रयः ।
सर्ववित्सर्वदर्शी चाहमनन्त-चतुष्टयः ॥१५३॥

परमात्मा प्रसिद्धोऽहं बुद्धोऽहं स्वचिदात्मकः ।
परमानन्द-भोक्ताऽहं विगताऽखिल-बन्धनः ॥१५४॥

एकोऽहं निर्ममत्वोऽहमुदासीनोऽहमूर्जितः ।
निर्विकल्पोऽहमात्मज्ञोऽहं दृक्केवल-लोचनः ॥१५५॥

उपयोगमयोऽहं च कल्पनातीत-वैभवः ।
स्वसंवेदन-संज्ञान-गम्योऽहं योग-गोचरः ॥१५६॥

सर्वज्ञः सर्ववेत्ताऽहं सर्वदर्शी सनातनः ।
जन्म-मृत्यु-जरातीतोऽहं सिद्धाष्ट-गुणात्मकः ॥१५७॥

त्यक्ताऽष्टकर्म-कायोऽहं जगज्ज्येष्ठोऽहमञ्जसा ।
जिनोऽहं परमार्थेन ध्येयो वंद्यो महात्मवान् ॥१५८॥
इत्याद्यैः स्व-परात्मोत्थ-भावना-ध्यान-चिन्तनैः ।
सर्वत्राध्यात्म-वेत्ताऽसौ स्वात्म-ध्याने लयं व्रजेत् ॥१५९॥

मैं सिद्ध हूँ, सिद्धरूप हूँ, मैं गुणोंसे सिद्धके समान हूँ, महान् हूँ, त्रिलोकके अग्रभागपर निवास करनेवाला हूँ, अरूप हूँ, असंख्यात-प्रदेशी हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं विशुद्ध हूँ, मैं निःकर्मा हूँ, मैं भवातीत हूँ—संसारको पार कर चुका हूँ, मैं मन-वचन-कायसे दूर हूँ, मैं अतीन्द्रिय हूँ—इन्द्रियोंसे परे हूँ, मैं क्रिया-रहित—निष्क्रिय हूँ, मैं अमूर्त्त हूँ, मैं ज्ञानरूप हूँ, मैं अनन्तगुणात्मक हूँ, मैं अनन्त-दर्शन अनन्त वीर्य और अनन्त सुखका धारक हूँ, मैं अनन्त ज्ञानरूप नेत्रका धारक हूँ, मैं अनन्त महिमाका आश्रय हूँ—आधार हूँ, मैं सर्ववित् हूँ, मैं सर्वदर्शी हूँ, मैं अनन्त चतुष्टयका धारक हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं प्रसिद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मैं स्वचैतन्यात्मक हूँ, मैं परमानन्दका भोक्ता हूँ, मैं सर्व प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे रहित हूँ, मैं एक हूँ—अखण्डरूप हूँ, मैं निर्ममत्वरूप हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं ऊर्जस्वी—तेजस्वी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं आत्मज्ञ हूँ, मैं केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप दो लोचनों—नेत्रोंका धारक हूं, मैं ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगमय हूँ, मैं कल्पनातीत वैभवका धारक हूँ, मैं स्वसंवेदन-गम्य हूँ, मैं सम्यग्ज्ञान-गम्य हूँ, मैं योग-गोचर हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ, मै सर्ववेत्ता हूँ, मैं सर्वदर्शी हूँ, मैं सनातन हूँ, मैं जन्म, जरा और मृत्युसे रहित हूँ, मैं सिद्धोंके अष्ट गुणोंका धारक हूँ, मैं अष्ट कर्मरूप कायसे—कार्मण शरीरसे या सर्व कर्मोंसे रहित हूँ, मैं निश्चयतः जगज्ज्येष्ठ हूँ, मैं जिन हूँ, परमार्थसे मैं ही स्वयं ध्यान करनेके योग्य हूँ, वन्दना करनेके योग्य हूँ और अतिशय माहात्म्यका धारक हूँ, इस प्रकार अपने उत्कृष्ट आत्मस्वरूपकी भावनारूप निजात्म्यभावनाद्वारा,

परमात्माके ध्यानद्वारा और स्वात्म-चिन्तनद्वारा वह अध्यात्मवेत्ता क्षपक सर्वत्र सर्वदा स्वात्म-ध्यानमें लीन रहे ॥१५०,१५१,१५२,१५३, १५४,१५५,१५६,१५७,१५८,१५९॥

यादृशं सिद्ध-सादृश्यं ध्यायेद् ध्यानी निजात्मकम् ।
तादृशं कर्म-निर्मुक्तं लभेताऽचिरतः शिवे ॥१६०॥
ज्ञात्वेति क्षपकोऽन्यो वा मुक्त्यै परात्मभावनाम् ।
सर्वत्र सुख-दुःखादौ भावयेन्न त्यजेत्क्वचित् ॥१६१॥

ध्यानी पुरुष जैसे सिद्ध-सदृश निजात्माका ध्यान करता है, वैसे ही कर्म-रहित आत्म-स्वरूपको वह शीघ्र मोक्षमें (जाकर) प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानकर क्षपक एवं अन्य-ज्ञानी जन मुक्ति-प्राप्तिके लिए सर्वत्र सर्वदा सुख-दुःखादिके अवसरपर परम शुद्धरूप आत्म-भावना-का भावे और कचित् कदाचित् भी शुद्ध नैजात्म्य-भावनाको नहीं छोड़े। ॥१६०,१६१॥

यतो योग-विशुद्धानामनन्त-कर्म-पुद्गलाः ।
प्रणश्यन्ति क्षणार्धेन स्वात्म-ध्यानादि-भावनैः ॥१६२॥

हे साधो! जिन पुरुषोंके योगकी विशुद्धता होती है, उनके अनन्त कर्म-पुद्गल निजात्माके ध्यान एवं चिन्तवन आदि भावनाओंसे आधे क्षणमें नष्ट हो जाते हैं। (अतएव तुम्हें अपना उपयोग आत्मस्वरूपके चिन्तनमें लगाना चाहिए।) ॥१६२॥

क्वचित्कर्म-गुरुत्वेनासमाधिर्जायते यदि ।
क्षुधाद्यैः क्षपकस्याशु तदा तद्धानयेऽञ्जसा ॥१६३॥
धर्मध्यान-समाध्यर्थं सूरिर्निर्यापकोऽद्भुतः ।
तस्य सम्बोधनं कुर्याद्धर्मागमोपदेशनैः ॥१६४॥

यदि कचित्-कदाचित् कर्म-भारकी गुरुतासे क्षुधा-तृषादिको बाधाके द्वारा क्षपकके चित्तमें असमाधि (अशान्ति) उत्पन्न हो जाय, तो विचक्षण निर्यापक आचार्य शीघ्र ही उसे दूर करनेके लिए तथा धर्म-ध्यान और समाधि जागृत करनेके लिए धर्मशास्त्रका उपदेश देकर उसे सम्बोधित करे—सावधान करे ॥१६३,१६४॥

अहो क्षपक ! आत्मार्थी सद्वचो मेऽवधारय ।
कुरु कृत्यं निजात्मार्थं दुर्ध्यानं त्यज सर्वथा ॥१६५॥
अनन्ता वेदनाऽनन्तवाराननन्त-संसृतौ ।
भ्रमता या त्वया भुक्ता सा किं ते विस्मृता विधेः ॥१६६॥

अहो क्षपक ! तुम आत्मार्थी हो—आत्म-कल्याणके इच्छुक हो, इसलिए मेरे सद्-वचनोंको हृदयमें धारण करो, अपने आत्माका जिसमें हित हो, उस कार्यको करो और यह जो तुम्हें दुर्ध्यान हो रहा है, उसे सर्वथा छोड़ दो। इस अनन्त संसारमें अनन्तकालसे परि-भ्रमण करते हुए तुमने अनन्तबार जो कर्म-जनित अनन्त वेदनाएँ भोगी हैं, वे सब क्या तुम्हें विस्मृत होगई हैं ? ॥१६५,१६६॥

तप्त-तैल-कटाह-स्थाङ्गिवत्त्वं दुर्गतौ चिरम् ।
दुःख-क्लेशाग्नि-कोटीभिः सन्तप्तः किन्न कर्मभिः ॥१६७॥
सर्वे किन्न त्वया प्राप्ताः क्षुत्तृषादि-परीषहाः ।
मुहुस्तीव्रतरा धीमन् श्वभ्र-तिर्यङ्-नृजातिषु ॥१६८॥
वाऽपरप्राणिनः पश्य भुञ्जानान् दुःखमुल्वणम् ।
पराधीनतया साक्षाद्रोग-क्लेशादि-बन्धनैः ॥१६९॥
यतो व्याधि-शताक्रान्ताः जर्जराः अस्थि-पञ्जराः ।
आ-पाद-गल-पर्यन्तं प्रबद्धाः शृङ्खलादिभिः ॥१७०॥

कुर्वन्तो लङ्घनादींश्च पक्ष-मासादि-गोचरान् ।
दुर्भिक्षेण दरिद्राद्यैः केचित्कदर्थितास्तराम् ॥१७१॥
इत्याद्यैर्वध-बन्धाद्यैराकुलाः पशवो नराः ।
बहवः किन्न दृश्यन्ते प्रत्यक्षेण त्वया मया ॥१७२॥

भो आत्माराधक ! तपाये हुए तेलकी कड़ाहीमें उबलते हुए प्राणीके समान तुम दुर्गतियोंमें चिरकाल तक करोड़ों दुःख और क्लेशरूप अग्निके समान कर्मोंके द्वारा क्या सन्तप्त नहीं हुए हो ? हे धीमन्, क्या तुमने नरक, तिर्यंच और मनुष्यगतिकी नाना जातियोंमें उत्पन्न हो-होकर भूख-प्यास आदिकी तीव्रतर सभी परीषहों और कष्टोंको नहीं प्राप्त किया है ? (फिर आज उन सब कष्टोंको क्यों भूल रहे हो ?) और इन दूसरे प्राणियोंको साक्षात् देखो, जो रोग-क्लेशादिसे तथा पराधीन बध-बन्धनादिसे पीड़ित होकर महादुःखोंको भोग रहे हैं। (और इन दीन-दरिद्री रोगी मनुष्योंको देखो, जो) सैकड़ों आधि-व्याधियोंसे आक्रान्त हैं और पैरोंसे लेकर गले तक सांकल आदिसे खूब जकड़े हुए हैं तथा पखवाड़े, महीने आदि तक लंघन आदि करते हुए दुर्भिक्ष और दरिद्रता आदिसे कितने लोग अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं। इस प्रकार बध-बन्धनादिसे आकुल-व्याकुल ये पशु और मनुष्य क्या तुम्हे और हमें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई दे रहे हैं ? ॥ १६७,१६८,१६९, १७०,१७१,१७२ ॥

पराधीन-सहस्रेभ्यः परा-दुर्गति-कोटिषु ।
संन्यासोत्थमिदं दुःखं कियन्मात्रं विचारय ॥१७३॥

हे साधो ! अति भयानक करोड़ों महादुर्गतियोंमें पराधीन होकर जो सहस्रों दुःख सहे हैं, उनके सामने संन्याससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा वर्तमान दुःख कितना-सा है, जरा इसका तो विचार करो ॥१७३॥

क्षुत्तृषा-संस्तराद्यैस्ते प्रोत्पद्यन्ते यथा यथा ।
दुःखादीनि प्रहीयन्तेऽसंख्य-दुर्भव-कोटिषु ॥१७४॥

अनेक-दुःख-दातृणि कुकर्माणि तथा तथा ।
ततः प्रत्यहमायाति मुक्ति-स्त्री निकटं गुणैः ॥१७५॥

विचार्येति विधेहि त्वं धीरत्वं शिव-साधने ।
संन्यासधर्म-सिद्ध्यर्थं कातरत्वं त्यजाऽखिलम् ॥१७६॥

हे यतिवर ! भूख-प्यास और संस्तर आदिके द्वारा जैसे-जैसे तुम्हारे दुःख-क्लेशादिक उत्पन्न होते हैं, वैसे-वैसे ही असंख्य कोटि खोटे भवोंमें अनेकों दुःखोंके देनेवाले ये तुम्हारे खोटे कर्म नष्ट होते जाते हैं और तुम्हारे गुणोंसे आकृष्ट होकर मुक्तिरूपी स्त्री प्रतिदिन तुम्हारे निकट आती जाती है। ऐसा विचार कर तुम शिवके साधन करनेके लिए धीरताको धारण करो और संन्यास-धर्मकी सिद्धिके लिए सर्व प्रकारकी कातरता या कायरताको छोड़ो ॥१७४,१७५,१७६॥

धीरत्वेन यतः शीघ्रं सर्वार्थ-सिद्धयः सताम् ।
अत्राऽमुत्र च जायन्ते धर्मार्थ-काम-सच्छिवाः॥१७७॥
महाघोर-तपांसीव परीषह-भटात्मनाम् ।
कषायाऽक्षादि-शत्रूणां धीरत्वेन सदा जय ॥१७८॥

हे मुनिवर ! यतः धीरतासे ही सज्जनोंको इस लोक-सम्बन्धी सभी इष्ट अर्थकी सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त होती हैं और परलोकमें भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। अतः महाघोर तपोंके समान परीषहरूप सुभटोंको तथा आत्माके कषाय और इन्द्रियादि शत्रुओंको सदा धीरताके साथ जीतो ॥१७७,१७८॥

कृशाङ्गोऽपि कुरु त्वं द्वौ स्वात्मार्थं सत्त्व-साहसौ ।
याभ्यां ते पूर्णतां यान्ति तपः-संन्यास-संयमाः ॥१७९॥

हे क्षपक ! यद्यपि तुम अत्यन्त कृश अंगवाले हो, तथापि अपने आत्माके हितार्थ अपने भीतर सत्त्व(बल) और साहस इन दोको उत्पन्न करो, क्योंकि इन दो गुणोंके द्वारा ही तुम्हारा तप, संन्यास और संयम पूर्णताको प्राप्त होगा ॥१७९॥

सर्षपाभेन कष्टेनानशनोत्थेन धीधनैः ।
यतो मेरुसमं सौख्यं प्राप्यते परजन्मनि ॥१८०॥

समाधिमरणके इस अवसरमें उपवास-जनित सरसोंके समान अल्प कष्टसे बुद्धिमान् लोग यतः पर जन्ममें मेरु पर्वतके समान महासौख्यको प्राप्त करते हैं, (अतः तुन्हें धीरताके साथ इसे सहन करना चाहिए) ॥१८०॥

अनन्त-दुःख-मृत्याद्याः कृतेनैकेन मृत्युना ।
प्रणश्यन्ति सतां नूनं ढौकन्ते त्रिजगच्छ्रियः ॥१८१॥

समाधिपूर्वक की गई इस एक ही मृत्युके द्वारा अनन्त दुःखोंको देने वाले जन्म-मरणादिक सर्वदाके लिए प्रणष्ट हो जाते हैं और तीन जगत्की सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मियां सज्जनोंको नियमसे आकर स्वयं प्राप्त होती हैं। (इसलिए हे भव्योत्तम ! तुम आये हुए इन कष्टोंको शान्ति-पूर्वक सहन करो) ॥१८१॥

समाधिमरणेनाहो सर्वज्ञ-वैभवं सताम् ।
इन्द्राहमिन्द्र-भूत्यो वा महर्द्धिकामर-श्रियः ॥१८२॥

अहो क्षपक ! समाधिमरणके द्वारा इन्द्र-अहमिन्द्रकी विभूतियां और महर्द्धिक देवोंकी लक्ष्मियाँ प्राप्त होती हैं। (अधिक क्या कहें—)

इस समाधिमरणके द्वारा सज्जनोंको सर्वज्ञताका परम वैभव भी प्राप्त होता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—विधिवत् समाधिमरणकी आराधना करनेवाला क्षपक अपनी ध्यानशुद्धिको उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ जब परम-समाधिमें लीन हो जाता है, उस समय वह घातिया-कर्मोंके क्षपणके लिए उद्यत होकर क्षपकश्रेणीपर चढ़ना प्रारम्भ करता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही प्रतिक्षण असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा करता हुआ और अनन्तगुणी विशुद्धिको बढ़ाता हुआ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानसे नवें अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें पहुँचता है, वहाँपर सूक्ष्म-लोभको छोड़कर चारित्रमोहनीयकी समस्त प्रकृतियोंका क्षय कर डालता है और तत्काल ही सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थानमें किंचित्काल रहकर सूक्ष्म-लोभका भी क्षय कर परमवीतरागी बनकर यथाख्यातचारित्रका धारक क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हो जाता हैं। इस गुणस्थानमें वह अन्तर्मुहूर्तकालके भीतर ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी सर्व प्रकृतियोंका क्षय करके तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त होता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टयका स्वामी बनकर सर्वज्ञताकी परम विभूतिको प्राप्त हो जाता है। इस समय यदि उस क्षपककी आयु अन्तर्मुहूर्तसे अधिक होती है, तो देवगण तत्काल आकरके उनके ज्ञानकल्याणककी पूजा करते है। इन्द्रकी आज्ञासे तत्काल गन्धकुटी बन जाती है और भव्यजीवोंका उद्धार करनेवाली उनकी दिव्यध्वनि प्रकट होती है। यदि आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र ही शेष है, तो वे सयोगकेवली भगवान् होकर सर्वज्ञताके वैभवका अनुभव करते और लोकालोकको हस्तामलकवत् साक्षात्कार करते हुए तत्काल योग-निरोधकर चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचते हैं और अयोगकेवली अवस्थामें "अ, इ, उ, ऋ, लृ" इन पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणकालप्रमाण कालके भीतर ही अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मको भी भस्म करते हुए सर्व कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर एक क्षणमात्रमें लोक-शिखरके अग्रभागमें अवस्थित सिद्ध-लोककी सिद्धशिलापर जा विराजते है और सदाके लिए अजर-अमर बन जाते हैं। उसी

समय देवगण आकरके उनके निर्वाणोत्सवको मनाकर जगत्में उनके यशका विस्तार करते हैं।

जो जीव उस परमसमाधिकी अवस्थामें क्षपकश्रेणीपर नहीं चढ़ पाते हैं, अथवा यो कहिये कि जिनका संसारमें रहना अभी कुछ बाकी है, वे उस समाधि-अवस्थामें उपशमश्रेणीपर चढ़ते हैं और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही आठवें, नवें और दशवें गुणस्थानमें मोहकर्मकी सर्वप्रकृतियोंका उपशम करके उपशान्त-मोह-वीतरागछद्मस्थ बनकर ग्यारहवें गुणस्थानमें जा पहुँचते है और कुछ क्षणके लिए यथाख्यातचारित्रके धारक बनकर परम-आत्मिक-सुखका अनुभव करते हैं। इस समय यदि उस क्षपककी शारीरिक दशा एकदम कमजोर है और यदि उसके जीवनका अन्त आ गया है या कुछ क्षणके भीतर ही मरण होनेवाला है, तो वह या तो वहीं मरणको प्राप्त होता है या ग्यारहवें गुणस्थानमे गिरते हुए दशवें, नवें और आठवेंमें भी मरणको प्राप्त हो जाता है। ऐसा जीव नियमसे ग्रैवेयकसे लेकर यथासंभव सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त विमानोंमें उत्पन्न होकर अहमिन्द्र पदको प्राप्त करता है। यदि वह आठवें गुणस्थानसे भी नीचे उतर सातवें आदि गुणस्थानोंमें मरणको प्राप्त होता है, तो फिर अपनी तात्कालिक पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याके अनुसार पहले सौधर्म स्वर्गसे लेकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग तकके इन्द्र, सामानिक आदि उत्तम जातिके महान् ऋद्धिवाले देवोंमें उत्पन्न होता है। ग्रन्थकारने इतने सब अर्थका उपसंहार इस एक ही श्लोकमें किया है। जिन्हें इस विषयके जाननेकी और इच्छा हो, उन्हें भगवतीआराधनाके अड़तीसवें अधिकार की १६१६ गाथासे लेकर उनतालीसवें अधिकारकी १६४३ अंक तककी गाथाओंका स्वाध्याय करना चाहिये ॥१८२॥

यथोच्चशिखरेणात्र प्रासादा भान्त्यर्हताम् ।
तथोच्चमृत्युना पुंसां तपो-रत्नत्रयादयः ॥१८३॥

जिस प्रकार ऊँचे शिखरोंसे इस जगतमें जिनेन्द्रदेवके मन्दिर शोभायमान होते हैं, उसी प्रकार उत्तम रीतिसे किये गये समाधि-मरणके द्वारा पुरुषोंके तप और रत्नत्रय आदिक शोभायमान होते

हैं। (इसलिए हे क्षपक, तुम्हें भले प्रकारसे समाधिपूर्वक मरण करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए) ।।१८३।।

मन्येऽत्र सफलांस्तेषां तपो-ध्यान-व्रतादिकान् ।
स्वर्मोक्ष-सुखकर्तृंश्च महामृत्युः कृतोऽत्र यैः ।।१८४।।

जिन पुरुषोंने इस मनुष्य-भवमें महामृत्यु अर्थात् समाधिमरण किया है, मैं तो स्वर्ग और मोक्षके सुखोंके देनेवाले उनके ही तप, ध्यान और व्रतादिकको सफल मानता हूँ ।।१८४।।

मरणे कातराणाश्च विराधिते भवेद् ध्रुवम् ।
देवदुर्गतिरात्मार्थो नश्येद्दीर्घोऽस्ति संसृतिः ।।१८५।।

जो कायर पुरुष समाधिमरणकी विराधना करते हैं, उनकी निश्चयसे देवदुर्गति होती है, आत्माका अभीष्ट प्रयोजन नष्ट होजाता है और संसार दीर्घ हो जाता है ।।१८५।।

विशेषार्थ—नीची जातिकी देवयोनिके पानेको देवदुर्गति कहते है। यदि समाधिमरण करनेवाले क्षपकके मरण-समय आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान उत्पन्न हो जाता है और उसने पहले किसी गति-संबन्धी आयुका बन्ध नहीं किया है, तो आर्त्त-परिणामोंसे मरण करनेवाला तिर्यंग्योनिमें और रौद्रपरिणामोंसे मरण करनेवाला नरकयोनिमें उत्पन्न होगा। यदि उसने पहलेसे देवायुका बन्ध कर लिया है और मरण-समय उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान उत्पन्न हो गया है, तो वह क्षपक उत्तम जातिके महर्धिक देवोंमें उत्पन्न न होकर नीच जातिके अल्पऋद्धिवाले आभियोग्य, किल्विषिक, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाचादि देवोंमें उत्पन्न होगा। वहाँपर उन्हें निरन्तर अपने स्वामी इन्द्रकी आज्ञामें उपस्थित रहना पड़ता है और उसकी आज्ञाके अनुसार सेना, वाहन, गायक, नर्तक और वाद्य-वादक आदिके कार्योंको करना पड़ता है। ऐसी देव-दुर्गतियोंमें उत्पन्न होनेवाले देव सदा ही उच्च देवोंके वैभवको देखकर अन्तरंगमें बिसूरते रहते हैं और मन-

ही-मनमें भारी अपमान, पराभव आदिसे उत्पन्न होनेवाले संक्लेशका अनुभव करते रहते हैं। इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए भगवतीआराधनाके उनतालीसवें अधिकारकी गाथाङ्क १९४४ से १९६२ अंक तककी गाथाओंका स्वाध्याय करना चाहिए। तथा कैसी भावनाओंवाला क्षपक मरकर देवदुर्गतिमें उत्पन्न होता है, इसकी जानकारीके लिए भी भगवतीआराधनाकी १८७ से १९० तककी गाथाओंका और उनकी संस्कृत-हिन्दी बड़ी टीकाका स्वाध्याय करना चाहिए ॥१८५॥

अब ग्रन्थकार घोर परीषह और उपसर्गोंको जीतकर आत्मकल्याण करनेवाले महामुनियोंके उदाहरण देकर क्षपकको सावधान हो कष्ट-सहन करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं—

त्रिरात्रानशनेनाहो सर्वार्थसिद्धिमाप्तवान् ।
सुकुमालो महायोगी तिर्यग्घोरोपसर्गजित् ॥१८६॥

अहो भव्योत्तम ! देखो, वह सुकुमाल महायोगी तीन रात्रि तक अनशनकर और तिर्यक्कृत घोर उपसर्गको जीत कर सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। (इनकी कथा प्रारम्भमें दी जा चुकी है।) ॥१८६॥

संजयन्त-मुनीन्द्रोऽगादन्तकृत्केवली क्षणात् ।
जित्वा मर्त्योपसर्गौघान् द्विपण्डित-मृतेः शिवम् ॥१८७॥

संजयन्त मुनीन्द्र मनुष्यकृत घोर उपसर्गोंको जीतकर और अन्तकृत्केवली होकर पंडितपंडितमरणके प्रभावसे एक क्षणमात्रमें शिवको प्राप्त हुए ॥१८७॥

विशेषार्थ—संजयन्त मुनि एक बार किसी पर्वतके ऊपर दिनके समय आतापन योगको धारणकर ध्यानमें अवस्थित थे। उसी समय कोई विद्याधर अपने विमानमें बैठा हुआ आकाश-मार्गसे जा रहा था। जिस समय उसका विमान संजयन्त मुनिके ऊपर आया कि वह वहीं रुक गया और विद्याधर लाखों प्रयत्न करने पर भी आगेको नहीं बढ़ सका। तब वह इसका कारण जाननेके लिये

विमानसे नीचे उतरा और विमानके ठीक नीचे उसने संजयन्त मुनिको ध्यानमें अवस्थित देखा, तो उसके क्रोधकी सीमा न रही और उसे यह दृढ विश्वास हो गया कि इसीने मेरे विमानको रोक दिया है। अतः वह उन्हें उठाकर अपने विमानमें ले गया और सोचने लगा कि इसे ऐसे स्थानमें पटक दूं जहाँकि इसका काम तमाम हो जावे। उसने लेकर भारतवर्षके पूर्वदेशस्थ सिंहवती नदीके उस स्थलपर उन्हें पटका—जहाँपर कि पाँच नदियाँ इधर-उधरसे आकर एक साथ मिलती थी। चूँकि संजयन्त मुनिका जन्म विदेह क्षेत्रमें हुआ था और उनका शरीर ५०० धनुष ऊँचा था। और जहाँ इन्हें पटका गया, उस समय भारत-वर्षके मनुष्योंकी ऊँचाई केवल सात धनुषकी थी। सिंहवती नदीके संगमपर स्नान करनेवाले लोगोने इतने विशाल कायवाले नग्न पुरुषको ऊपरसे गिरता देखा, तो वे भयभीत हो गये और सोचने लगे कि यह विशाल कायवाला कोई महान् राक्षस है और हम लोगोंको खानेके लिए यहाँ आया है, सो उन्होंने मिलकर चारो ओरसे उन्हें पत्थरोंसे, बड़ी-बड़ी लाठियोसे एवं अन्य नाना प्रकारके दूसरे साधनो—जिसे जो मिला—उसीसे मारना प्रारम्भ किया। मुनिने प्रयोपगमन संन्यास ले लिया था। अतः वे तदवस्थ रहे और लोग तब तक उनपर पाषाण-वर्षादि करते रहे, जब तक कि उन्होंने उन्हें मरा हुआ नही समझ लिया। संज-यन्त मुनि मनुष्योंके द्वारा किये गये इस उपसर्गको अत्यन्त शान्त परिणामोसे सहन करते रहे और मरणकी अन्तिम घड़ीमें केवलज्ञान उत्पन्न कर अन्तःकृत्के-वली होते हुए मोक्षको प्राप्त हुए ॥१८७॥

अन्ये धन्यकुमाराद्या बहवो मुनयो ययुः ।
नव-मास-निराहारैः सर्वार्थसिद्धि-सद्गतीः ॥१८८॥

धन्यकुमार आदि अन्य अनेक महामुनि लगातार नौ मास तक निराहार रहकर सर्व अर्थकी सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धिरूप सद्-गतिको प्राप्त हुए। ॥१८८॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकारने जिन धन्यकुमार मुनिका नामोल्लेख इस श्लोकमें किया है, उनकी कथा इस प्रकार है—

एक समय धन्यकुमार भ० नेमिनाथके समवशरणमें धर्मोपदेश सुननेके लिए गये, वहाँपर उन्होंने अपने पूर्वभव पूछे, इस भवकी आयुको और आगामी भवकी गतिको भी जानना चाहा। भगवानकी दिव्यध्वनिसे पूर्व भव जानकर और इस भवकी अवशिष्ट आयु अल्प जानकर उन्हें वैराग्य हो गया और वे भगवानके पास ही दीक्षित हो गये। किन्तु पूर्वजन्मके पापोदयसे नगरोमें प्रतिदिन गोचरीके लिए जानेपर भी उन्हें आहार-लाभ न हुआ। निदान उन्हें देश-देशान्तरोंमें विहार करते और लगातार निराहार रहते हुए नौ मास बीत गये। अन्तिम दिन वे सौरीपुरके निकट यमुना नदीके किनारे ध्यानमें अवस्थित थे। वहाँका राजा शिकार खेलनेके लिए निकला। पर दिनभर वनमें भटकनेपर भी उसे कोई शिकार हाथ नहीं लगा और हताश होकर वापिस नगरको लौटा। लौटते समय उसकी दृष्टि ध्यानस्थ मुनिके ऊपर पड़ी। उसने सोचा—इस नंगे साधुके प्रातः-काल देखनेके अपशकुनसे हो मुझे आज शिकार हाथ नहीं लगी है। इसलिए प्रतिशोधकी भावनासे क्रोधित होकर उसने उनके शरीरको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे वेध डाला। सैकड़ो बाणोंके एकसाथ प्रहारसे मुनिका शरीर चलनीके समान जर्जरित हो गया, सारे शरीरसे रक्तकी धारा बहने लगी। इस उपसर्गके प्रारंभ होते ही धन्यकुमार मुनिने प्रायोपगमन संन्यास अंगीकार कर लिया था। इधर राजा बाणोंसे बींधकर नगरको लौटा और उधर मुनिराज क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हुए और एक लघु अन्तर्मुहूर्तमे ही धातिया-कर्मोंका नाशकर अन्तःकृत्केवली होते हुए निर्वाण पधारे।

सौरीपुर (बटेश्वर) के पास यमुनाके किनारे, जिस स्थानसे धन्यकुमार मुनिराजने यह महाउपसर्ग जीतकर निर्वाण प्राप्त किया था, वह स्थान आज भी लोगोंके द्वारा पूजा जाता है और इसीसे इस घटनाकी ऐतिहासिक सत्यता प्रमाणित होती है ॥१८८॥

समाधिमरणेनाहो गृहस्था बहवो विदः ।
षोडश-स्वर्ग-पर्यन्तं यान्ति चेन्द्रपदं परे ॥१८९॥

अहो क्षपक ! समाधिमरणके द्वारा अनेक ज्ञानी गृहस्थ भी सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त इन्द्र पदको प्राप्त हुए हैं । ।।१८९।।

व्याघ्र-सर्पादयः क्रूराः पशवोऽपि व्रजन्ति भोः ।
अच्युतान्ताखिलान् कल्पान् कृताऽनशन-धर्मतः ।।१९०।।

भो आराधक ! मरण समय उपवासरूप धर्मके प्रभावसे व्याघ्र-सर्पादिक अनेक क्रूर पशु भी अच्युत कल्प तकके स्वर्गोंको प्राप्त हुए है । ।।१९०।।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें जिन व्याघ्र, सर्व आदि क्रूर पशुओंके उपवास करते हुए समाधिमरण करने और स्वर्गादिकी प्राप्तिका संकेत किया गया है, उनकी संक्षिप्त कथाएँ इस प्रकार हैं—

(१) भगवान् महावीर स्वामीका जीव नौ भव पूर्व, जब सिंहकी पर्यायमें था, एक दिन किसी जंगलमें एक हरिणको मारकर खा रहा था । भाग्यवश उसी समय आकाश-मार्गसे विहार करते हुए दो चारण-मुनि उधरसे निकले, उनकी दृष्टि अचानक उस सिंहपर जा पड़ी और उन्हें अवधिज्ञानसे ज्ञात हुआ कि यह भ० ऋषभदेवके पौत्र मरीचिका जीव है और आगे जाकर चौबीसवां तीर्थंकर महावीर होनेवाला है । किन्तु आज हिंसक पशुकी पर्यायमें होनेसे निरन्तर दारुण पाप कर रहा है । अतः उसके सम्बोधनार्थ वे उसीके समीप किसी शिलातलपर बैठकर उच्चस्वरसे उस सिंहको सम्बोधित करते हुए उसके मरीचि-भवको आदि लेकर त्रिपृष्ठनारायण होने और पुनः नरकादिमें जाकर सिंह होने तककी सभी घटनाओंको सुनाने लगे । उनके उच्चस्वरको सुनते-सुनते सिंहको पूर्व भवोंका जातिस्मरण हो आया और अपनी पूर्व-भवकी तथा आजकी पाप-क्रियाओंका स्मरण आते ही उसकी आंखोंसे आँसू टपाटप गिरने लगे और मांस खाना भूल गया । दोनों मुनियोंने देखा कि हमारे वचनोंको सुनकर सिंहके भावोंमें परिवर्तन हुआ है, तो उन्होंने उसे लक्ष्य करके वर्तमान भवमें हिंसारूप महान् पापको छोड़नेका उपदेश देना प्रारंभ किया । सिंहपर साधुओंकी वाणीका

इतना प्रभाव पड़ा कि वह उनके पास आकर और उन्हें कई प्रदक्षिणाएँ देकर चरणोंके समीप बैठ गया। उपयुक्त अवसर देखकर साधुओंने उसे पुनः सम्बोधा, जिससे उसने अपने नैसर्गिक मांसाहारका परित्याग कर दिया। अन्य निर्दोष और अहिंसक शाकाहार या अन्नाहार उसे मिलना संभव नहीं था, फलस्वरूप कितने ही दिनों तक निराहार रहकर उसने समभावोंके साथ प्राणोंको छोड़ा और मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ। आगे जाकर उत्तम मार्गपर चलते हुए वही सिंहका जीव भगवान् महावीर बना।

(२) भ० पार्श्वनाथके समयकी बात है, जब कमठका जीव तापसी था और अग्नि जलाकर पञ्चाग्नि तप कर रहा था। भाग्यवश भ० पार्श्वकुमार उधरसे वन-विहार करते हुए आ निकले। उनकी दृष्टि तापसीपर अटकी और उन्होंने अपने अवधिज्ञानसे देखा कि इस जलते हुए काष्ठ-खंडके भीतर एक सर्प-युगल अग्निकी ज्वालासे दग्ध होता हुआ छटपटा रहा है। उन्होंने तापससे यह बात कही। पर उसे विश्वास न हुआ और लड़नेको उद्यत हो गया। पार्श्वकुमारने उसे काष्ठ-खण्ड फाड़नेको कहा। तापसने जैसे ही कुठारसे काष्ठको फाड़ा कि सर्प-युगल उसमेंसे एकदम बाहर निकला। पार्श्वकुमारने उनका अन्तिम समय देखकर उन्हें सम्बोधा और वे समभावके साथ प्राणोंको छोड़कर धरणेन्द्र और पद्मावती हुए, जिनकी कि कथा जैन पुराणोंमें अति प्रसिद्ध है।

(३) भ० महावीरके समयकी घटना है। एक स्थानपर कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे कि एक कुत्ताने आकर उनकी हवन-सामग्रीको उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया। ब्राह्मणोंने कुपित होकर कुत्तेको इतना पीटा कि वह मरणासन्न हो गया। देववश उसी समय जीवन्धरकुमार उधरसे आ निकले और उसे मरणासन्न देखकर उन्होंने उसे सम्बोधित करते हुए उसके कानोंमें अनादि मूलमंत्र सुनाया। कुत्ता समभावोंके साथ मरा और देव हो गया। यह कथा भी उत्तर-पुराण आदिमें बहुत प्रसिद्ध है।

इसी तरह सीताके रक्षक जटायु पक्षीने, साधुके रक्षक सूकरने एवं इसी प्रकारके अगणित पशु-पक्षियोंने जीवनके अन्तमें समभावोंके साथ प्राणोंका

परित्याग कर देवपद पाया है। तो समाधिमरणके धारक हे क्षपक ! तुम अपने जीवनकी इस अन्तिम वेलामें समभावको मत छोड़ो, साहसको प्रकट करो और शान्तिपूर्वक प्राणोंका परित्याग करो, जिससे कि आगे तुम्हें अनन्त संसारमें परिभ्रमण न करना पड़े ॥१६०॥

मृत्योर्विराधनात्कोपात् कृत-क्लेशतपा अपि ।
द्वीपायन-मुनिर्जातोऽनन्त-संसार-दुःख-भाक् ॥१९१॥
अन्येऽप्यनेकशो जीवाः समाधिमरणच्युताः ।
अनन्त-जन्म-मृत्याप्ता क्लेश-कोटि-शतावहाः ॥१९२॥
ज्ञात्वेति क्षपकात्मार्थं मुक्त्वाऽसमाधिमञ्जसा ।
विधेहि सर्वयत्नेन समाधिमरणं परम् ॥१९३॥

जीवनभर क्लिष्ट (कठिन) तपस्या करनेवाला भी द्वीपायन मुनि क्रोधके द्वारा मृत्युकी—समाधिमरणकी विराधना करनेसे संसारके अनन्त दुःखोंका भोक्ता हुआ। इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्राणी समाधिमरणसे च्युत होकर कोटिशत क्लेशोंवाले अनन्त जन्मों और मरणोंको प्राप्त हुए हैं। ऐसा जानकर हे क्षपक ! आत्म-कल्याणके लिए निश्चयतः असमाधिको छोड़कर सर्व प्रकारके प्रयत्नसे परम समाधिपूर्वक मरण करो ॥१९१,१९२,१९३॥

विशेषार्थ—द्वीपायन मुनिकी कथा इस प्रकार है—श्रीकृष्णके बड़े भाई बलदेवजीने भ० नेमिनाथसे एक बार पूछा—भगवन् श्रीकृष्णका साम्राज्य कितने दिन तक रहेगा ? भगवानने उत्तर दिया—१२ वर्ष। पुनः बलदेवजीने पूछा—भगवन्, फिर द्वारिकाका क्या होगा ? उत्तर मिला—द्वीपायन मुनिके निमित्तसे विनाश। भगवन्, किस कारण ? उत्तर मिला—मदिरापानसे उन्मत्त हुए यादवकुमारोंके उत्पातसे पीड़ित होनेके कारण। भगवान्के मुखसे यह उत्तर सुनते ही द्वीपायन मुनि को, जो महान् तपस्वी थे और उस समय वहीं बैठे हुए थे,

यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि हाय, मेरे निमित्तसे द्वारिका और उसमें रहने-वाले लाखो प्राणियोका विनाश होगा। अतः वे इस महापापमय रौद्र कार्यसे बचनेके लिए तत्काल ही वहाँसे पूर्व देशोंकी ओर विहार कर गये। इधर श्रीकृष्ण और बलदेवजीने परस्परमे विचार-विमर्श कर नगरीकी सारी मदिराको नगरके बाहर फिकवा दिया और सारी द्वारिकापुरीमें यह घोषणा करा दी कि १२ वर्षमे द्वारिका भस्म हो जायेगी, इसलिए जो संसार-वाससे और इस विनाशसे बचना चाहे, तो वे साधु बनकर आत्म-कल्याण करें और जहाँ जाना चाहें चले जावें। धीरे-धीरे १२ वर्ष पूरे हो गये। इस बीच द्वीपायन मुनि भी नाना देशोमें विहार करते रहे। जब उन्होंने देखा कि १२ वर्ष बीत चुके है और द्वारिका विनष्ट नही हुई है, मै भी उससे दूर हूँ, तो वे मनमें बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने समझा कि भ० नेमिनाथके वचन असत्य सिद्ध हुए है। पर ऐसा विचार करते हुए वे यह बिलकुल भूल गये, कि इसी वर्ष एक अधिक मास हुआ है, जो सदा ही हर तीसरे वर्ष होता है। अतः वे विहार करते हुए द्वारिका जा पहुँचे और पुरीके बाहर आतापन योग धारण करके ध्यानस्थ हो गये। भाग्यवश शम्भु आदि यादवकुमार उसी दिन वन-विहारको निकले। वनमें घूमते-घूमते उन्हें प्यास लगी, पानीकी उन्होंने बहुत खोज की, मगर वह कही नहीं मिला, जहाँ मदिरा फैकी गई थी—वह सारी भूमि मदिराकी मादकतासे अनुवासित हो गई थी और इधर वर्षा-जल वहाँ एकत्रित था। उसे देखते ही उन प्यासे यादव-कुमारोंने उस मदिरा-मिश्रित जलको भर-पेट पी लिया। पुरानी मदिरा अति-मादक होती है, अतः वे लोग क्षणभरमें ही उन्मत्त हो नाना प्रकारकी कुचेष्टाएँ करते और असंबद्ध प्रलाप करते हुए पुरीको लौट रहे थे, कि मार्गमें ध्यानस्थ द्वीपायन मुनिको देखा, तो उन्हें देखते ही उन यादवकुमारोने उनपर पाषाण फेंकना और गाली देना प्रारंभ किया। द्वीपायनने अपनेको संभालनेका बहुत प्रयत्न किया, पर वे संभाल नही सके और रोषसे उनका सारा शरीर तपने लगा। इधर श्रीकृष्ण और बलदेवने जब यह दुर्घटना सुनी तो वे दौड़े हुए आये, मुनिके चरणोंमें गिरे, क्षमा-याचना की। मगर उनका पारा सीमाके बाहर हो चुका था, उन्होने हाथ उठाकर दो अंगुलियाँ दिखाईं, जिसका भाव था कि तुम दो ही

बचोगे। तत्काल उनके बाएँ कन्धेसे तैजस पुतला निकला, जिससे क्षणभरमें सारी द्वारिका भस्म हो गई और अन्तमें उसने उन्हें भी भस्म कर दिया ॥१६१,१६२,१६३॥

तस्मिद्ध्यै त्यज दुर्ध्यानमार्त-रौद्रमघाकरम् ।
धर्म्य-शुक्लोत्तमं ध्यानं ध्याहि समाधि-साधनम् ॥१६४॥
इति तद्बहुधा धर्मोपदेशामृत-पानतः ।
प्रीणितः क्षपको भूत्वा स्वस्थः समाधितत्परः ॥१६५॥
समाधि-ध्यान-सिद्धयर्थं भावयेदिति चात्मनः ।
अहो यः परमात्माऽत्र ख्यातः साक्षाच्छिवङ्करः ॥१६६॥
स एवाऽहं गुणैर्ज्येष्ठः सिद्धसादृश्य ऊर्जितः ।
नित्योऽनित्यमिदं देहं कर्मोत्पन्नं न जातु मे ॥१६७॥
अत एतद्वपुर्निन्द्यं यात्वाऽऽशु च्छिन्न-भिन्नताम् ।
यमान्तं वा पृथग्मत्तोऽचेतनं चेतनात्मतः ॥१६८॥
इत्यात्मभेदविज्ञानादिभिर्योगी च योगधृत् ।
सर्वाऽसमाधिमाहत्य धर्मध्यान-परो भवेत् ॥१६९॥

हे साधो ! उस समाधिमरणकी सिद्धिके लिए पापोंके आकर (खानि) आर्त्त और रौद्ररूप दुर्ध्यानको छोड़ो एवं समाधिके साधक उत्तम धर्म और शुक्लध्यानको ध्याओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा दिये गये उक्त बहुविध धर्मोपदेशरूप अमृतके पानसे प्रसन्न एवं स्वस्थ होकर वह क्षपक समाधिमरणमें तत्पर होता हुआ समाधि और ध्यानकी सिद्धिके लिए आत्माकी इस प्रकार भावना करे। अहो आत्मन् ! जिसे इस लोकमें या परमागममें साक्षात् शिवंकर परमात्मा कहा गया है, वही सिद्ध-सदृश गुणज्येष्ठ—अनन्तगुणोंका धारक परम-

तेजस्वी मैं शुद्ध नित्य-निरंजन हूँ और यह कर्म-जनित, मल-दूषित देह अनित्य है; वह मेरा कदाचित् भी नहीं हो सकता। अतः यह निन्द्य अचेतन शरीर भले ही छिन्न-भिन्न हो या मरणको प्राप्त हो; पर वह मेरे चेतन-स्वरूप आत्मासे तो पृथक् ही है। इस प्रकार आत्मा और देहके भेद-विज्ञानादिरूप भावनाओंके द्वारा वह योगका धारक योगी क्षपक सर्वप्रकारकी असमाधिको—चित्तकी व्याकुलता, व्यग्रता एवं संक्लेश परिणतिको—दूर करके धर्म-ध्यानमें तत्पर होवे। ॥१९४,१९५ १९६,१९७,१९८,१९९॥

> अतः प्राणान्त-पर्यन्तं ध्यानं कुर्यात्परात्मनः ।
> वाऽर्हत्सिद्ध-त्रि-साधूनां हृदि वा जपनं गिरा ॥२००॥
> अन्तकालेऽतिनिःशक्त्या देहे पञ्चपदान् यदि ।
> अक्षमो जपितुं ध्यातुं वा तद्येक-द्विसत्पदान् ॥२०१॥
> जपेद्वा त्वेकचित्तेन ध्यायेत्सर्वप्रयत्नतः ।
> स्वात्मानं वाऽऽत्मना सिद्धसममध्यात्मचिद्-गुणैः ॥२०२॥

इसके पश्चात् वह क्षपक प्राणोंके अन्त होने तक वह अपने परम शुद्ध आत्माका ध्यान करे, अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियोंका हृदयमें चिन्तन करे और वाणीसे जपन—अव्यक्त या मन्द स्वरसे नाम-उच्चारण करे अर्थात् पंचनमस्कार मंत्रका चिन्तन एवं जाप करे। अन्तिम समय यदि देहमें अत्यन्त अशक्ति आजाय और पंचनमस्कार पदोंके जपने या ध्यान करनेमें भी असमर्थ हो जाय; तो 'ॐ', 'सिद्ध' आदि एकाक्षर या द्वयक्षररूप सत्पदोंको जपे और एकाग्रचित्त हो सर्व प्रयत्नपूर्वक आध्यात्मिक चैतन्य-गुणोंके द्वारा अपनी आत्माको अपनी आत्मासे सिद्धके समान ध्यावे ॥२००,२०१,२०२॥

अन्तावस्थां गतस्तस्य निर्यापकजनास्तदा ।
कर्णे पञ्चनमस्कारं जपन्तु यावदाऽऽमृति ॥२०३॥
इति ध्यान-समाध्याद्यैर्मुक्त्वा प्राणान् प्रयत्नतः ।
याति सर्वार्थसिद्धिं स उत्कृष्टेन महातपाः ॥२०४॥
कश्चित्संन्यासधर्मेण गच्छेद् ग्रैवेयकादिकम् ।
जघन्याराधकः कश्चिद् व्रजेत्कल्पान्तमञ्जसा ॥२०५॥
तत्र भुङ्क्ते महासौख्यं सर्वाऽऽह्लाद-तृप्तिदम् ।
निरौपम्यं जगत्सारं कवि-वाचामगोचरम् ॥२०६॥
संन्यासधर्म-पाकोत्थं दिव्य-स्त्री-क्रीडनोद्भवम् ।
स्वेच्छया दिव्यरूपोऽसौ महर्द्धिक-सुराग्रिमः ॥२०७॥

जब निर्यापक-जन उस क्षपकको अन्त्य-अवस्थाको प्राप्त देखें, तब मृत्यु होनेतक उसके कानमें पंचनमस्कार मंत्रका जाप करें। इस प्रकार वह महातपस्वी ध्यान और समाधि आदिके द्वारा सर्व प्रयत्नके साथ प्राणोंको छोड़ कर उत्कर्षसे सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है। कोई मध्यम संन्यासधर्मके प्रभावसे नवग्रैवेयकादि विमानोंमें उत्पन्न होता है और कोई जघन्य आराधक नियमसे अच्युत कल्प तकके स्वर्गोंके यथायोग्य कल्पोंमें पैदा होता है। और वहाँपर वह दिव्य रूपका धारक महर्द्धिक उत्तम देव होकर सर्व इन्द्रियोंको परम आह्लाद और तृप्ति देनेवाले, निरुपम, कवि-वाणीके अगोचर जगतके सारभूत, संन्यास धर्मके परिपाकसे प्राप्त देवांगनाओंके साथ क्रीड़ा करनेसे पैदा होनेवाले महान् सौख्यको अपनी इच्छानुसार भोगता है। ॥२०३,२०४,२०५,२०६,२०७॥

उत्कृष्टाराधना येषां वीतराग-मुनीशिनाम् ।
लब्ध्वा सर्वार्थसिद्ध्यादीन् स्युस्तत्रकावतारिणः ॥२०८॥

जघन्याराधना येषां भुक्त्वा ते सुगति-द्वये ।
सप्ताष्ट-भव-पर्यन्तं सुखं याति शिवालयम् ॥२०९॥
किमत्र बहुनोक्तेन यादृश्याराधना मृतौ ।
तादृश्यो गतयो नृणां जघन्य-मध्यमोत्तमाः ॥२१०॥
ज्ञात्वेति यत्नतोऽमुत्र धर्मं सर्वार्थसिद्धये ।
साधयन्तु बुधाः शक्त्या पण्डितं मरणोत्तमम् ॥२११॥

जिन वीतराग महामुनियोंकी उत्कृष्ट आराधना होती है वे सर्वार्थ-सिद्धि आदि अनुत्तर विमानोंको पाकर एकभवावतारी होते हैं। और जिनकी जघन्य आराधना होती हैं, वे देव और मनुष्य इन दो सुगतियों में सात-आठ भव तक सुखको भोगकर अन्तमें शिवालय (मोक्ष) को जाते हैं। (मध्यम आराधनावाले क्षपक यथासंभव दो-तीन-चार-पांच या छह भवोंको धारणकर मोक्षको प्राप्त होते हैं।) इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या ? मरणके समय जिन मनुष्योंकी जैसी आराधना होती है, वे उसी प्रकारकी जघन्य, मध्यम और उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। ऐसा जानकर बुधजनोंको चाहिए कि वे परलोकमें सर्व अर्थकी सिद्धिके लिए उत्तम पण्डितमरणरूप संन्यास-धर्मका सर्व यत्नसे अपनी शक्त्यनुसार साधना करें। ॥२०८,२०९,२१०,२११॥

आराधयन्तु यत्नेन दृगाद्याराधनाः पराः ।
समाधिमृत्यु-सिद्ध्यर्थं त्रि-जगत्सौख्य-मातृकाः ॥२१२॥

हे भव्यजीवो ! आप लोग समाधिमरणकी सिद्धिके लिए तीन जगतके सर्व सुखोंकी जननी सम्यग्दर्शनादि चारों परम-आराधनाओं-की सर्व प्रकारके प्रयत्नसे आराधना करें ॥२१२॥

अब ग्रन्थकार ग्रन्थका उपसंहार करते हुए भगवती आराधनाकी समाराधनाके लिए गुणीजनोंको संबोधित करते हैं—

सम्य(सद्द)-ग्ज्ञान-चरित्र-घोरतपसामाराधना दुष्करा,
विश्वाऽशर्म-हरा सुधर्म-जननी मुक्त्यङ्गना-मातृका ।
श्रीतीर्थेश-मुखोद्भवा मुनिवरैः सेव्या गुणानां खनी,
सेवध्वं गुणिनोऽति-यत्न-बहुभिः सन्मृत्यु-संसिद्धये ।।२१३।।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और घोर तप इन चारोंकी आराधना अति दुष्कर है, यह संसारके सर्व दुःखोंको हरण करनेवाली है, सुधर्मकी जननी है, मुक्ति-रमाकी साधिका है, गुणोंकी खानि है, श्रीतीर्थंकर-भगवानके मुखारविन्दसे प्रकट हुई है और मुनिवरोंके द्वारा सेव्य है। ऐसी भगवती परमसुखदायिनी आराधनाको हे गुणिजनों ! आप लोग सन्मृत्युकी संसिद्धिके लिए—समाधिमरणकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त एवं बहुत यत्नोंके साथ सेवन करें—सावधानीपूर्वक चारों आराधनाओंकी आराधनामें दत्तचित्त होवें। ।।२१३।।

अब ग्रन्थकार स्वयं भी भगवती आराधनाकी प्राप्तिके लिए मंगल-कामना करते हैं—

असम-गुण-निधानी विश्व-कल्याणमूला,
त्रिभुवन-पति-पूज्या वन्दिता संस्तुता च ।
सुगणि-सकलकीर्त्या यातु सम्पूर्णतां मे,
सुमरण-शिव-सिद्ध्यै तादृगाद्या महत्यः ।। २१४ ।।

यह भगवती परम आराधना अनन्त गुणोंकी निधान है, विश्व-कल्याणकी मूल है, तीनों भुवनोंके पति—इन्द्र-नरेन्द्र-नागेन्द्रसे पूजित है और सुगणि सकलकीर्त्तिसे भी वन्दित और संस्तुत है अथवा सर्वप्रकृष्ट कीर्त्तिके धारक गणधरादि महामुनियोंसे भी पूजित, वन्दित एवं स्तुत है, वह मेरे समाधिमरण और मोक्षकी सिद्धिके लिए सम्पूर्णताको प्राप्त होवे। तथा इस भगवती आराधनाको आदि लेकरके इसी

प्रकारकी अन्य जो बड़ी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धिरूप विभूतियाँ हैं, वे भी मुझे सम्पूर्णरूपसे प्राप्त होवें। ॥२१४॥

यैस्तीर्थेशपरैः सतां सुगतये सम्यक् प्रणीताश्च याः,
यासां सेवनतो बभूवुरमलाः सिद्धा अनन्ता हि ये।
या नित्यं कथयन्ति सूरि-सुविदोऽआराधयन्ते परे,
तास्ते मे निखिलाः स्तुताः सुगतये दद्युर्दृगाद्यान् परान्।२१५।

जिन तीर्थंकरादि महापुरुषोंने सन्त पुरुषोंकी सुगतिके लिए जिन आराधनाओंका सम्यक् प्रणयन किया—विशदरीतिसे उपदेश दिया, जिनके सेवनसे अनन्तजीव कर्म-मलसे रहित होकर सिद्ध पदको प्राप्त हुए हैं, जिनका सूरि और सुविज्ञजन नित्य ही कथन करते हैं, जिनकी आत्म-हितैषी जन सदा आराधना करते रहते हैं, ऐसी वे समस्त जगत-स्तुत—विश्व-वंद्य भगवती चारों आराधनाएँ तथा उनके आराधक मेरी सुगतिकी प्राप्तिके लिए दृग्विशुद्धि आदि परम गुणोंको देवें। अर्थात् भगवती परम-आराधनाओंके प्रसादसे मुझे भी उन्हीं चारों आराधनाओं-की सम्प्राप्ति होवे ॥२१५॥

हे भगवति आराधने! तेरे चरण-प्रसाद।
अन्त समयमें होय नहिं, मेरे दुःख-विपाद ॥ १ ॥
तूने अगणित जनोंको, कीना जगसे पार।
मुझको भी अब पारकर, मेरी ओर निहार ॥ २ ॥

—:०:—

परिशिष्ट

१. समाधिमरणोत्साहदीपक-पद्यानुक्रमणिका

ज

त

द

ध

न

प

२. समाधिमरणोत्साहदीपक-गत पारिभाषिक शब्द-सूची

३. उपयोगी समाधिमरणपाठ-संग्रह

(क) मृत्यु-महोत्सव

(संस्कृत तथा पं० सदासुखजी कृत हिन्दी-वचनिका)

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधि-बोध-पाथेयं यावन्मुक्ति-पुरीपुरः ॥१॥

अर्थ—मृत्युके मार्गमें प्रवृत्यो जो मैं ताकूं, भगवान वीतराग देव, समाधि कहिए स्वरूपकी सावधानी, अर बोधि कहिये रत्नत्रयका लाभ, सो दीजो। और पाथेय कहिए परलोकके मार्गमें उपकारक वस्तु, सो देहु, जित-नेक मैं मुक्ति-पुरी प्रति जाय पहुँचूं ॥

भावार्थ—मैं अनादि कालसे अनेक कुमरण किये, जिनको सर्वज्ञ वीतराग ही जाने हैं। एकबार हू सम्यक्मरण नहीं किया, जो सम्यक्मरण करता तो फिर संसारमें मरणका पात्र नहीं होता। जाते जहाँ देह मरी जाय, अर आत्माका सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभाव है सो विषय-कषायनि कर नहीं घात्या जाय, सम्यक्मरण है। अर मिथ्याश्रद्धान रूप हुवा देहका नाशको ही अपना आत्माका नाश जाणता, संक्लेशतें मरण करना, सो कुमरण है। मैं मिथ्यादर्शनका प्रभावकरि देहमें ही आपा मान, अपना ज्ञान-दर्शन स्वरूपका घात करि अनंत परिवर्तन किये, सो अब भगवान वीतरागसूं ऐसी प्रार्थना करूं हूँ, जो मरणके समय मेरे वेदनामरण तथा आत्मज्ञानरहित मरण मति होऊँ। क्योकि सर्वज्ञ वीतराग जन्म-मरण रहित भये हैं, ताते मैं हूँ वीतराग सर्वज्ञका शरणसहित, संक्लेशरहित, धर्मध्यानपूर्वक मरण चाहता, वीतराग ही का शरण ग्रहण करूं हूँ ॥१॥

॥ अब मैं मेरी आत्माको समझाऊँ हूँ ॥

कृमिजाल-शताकीर्णे जर्जरे देह-पंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञान-विग्रहः ॥२॥

अर्थ— भो आत्मन्! कृमनिके सैकड़ों जाल करि भरया, अर नित्य जर्जर होता देहरूप पींजरा, इसको नष्ट होते तुम भय मत करो। क्योंकि तुम तो ज्ञानशरीर हो॥

भावार्थ—तुम्हारा रूप तो ज्ञानमई है, जिसमें यह सकल पदार्थ उद्योत रूप हो रहे हैं। अर वह अमूर्तीक, ज्ञान-ज्योतिस्वरूप, अखंड, अविनाशी, ज्ञाता, द्रष्टा है। और यह हाड़, मास चमड़ामई महादुर्गन्ध विनाशीक देह है, सो तुम्हारे रूपते अत्यंत भिन्न है। कर्मके वशते एक क्षेत्रमें अवगाह करि एक-से होय तिष्ठे हैं, तो भी तुम्हारे, इनके अत्यन्त भेद है। अर यह देह पृथ्वी, जल, अग्नि, पवनके परमाणुनिका पिंड है सो अवसर पाय सब बिखर जायेंगे। तुम अविनाशी, अखण्ड, ज्ञायकरूप हो, सो इसके नाश होनेतें भय कैसे करो हो? ॥२॥

ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तर-स्थितिः ॥३॥

अर्थ— भो ज्ञानिन् कहिये हो ज्ञानि आत्मा, तुमको वीतरागी सम्यक्-ज्ञानी उपदेश करे हैं, जो मृत्युरूप महान् उत्सवको प्राप्त होते काहेको भय करो हो। यो देही कहिये आत्मा, सो अपने स्वरूपमें तिष्ठता अन्य देहमें स्थिति रूप पुरकूं जाय है। यामें भयका हेतु कहा है।

भावार्थ—जैसे कोऊ एक जीर्ण कुटीमेंतें निकसि अन्य नवीन महलको प्राप्त होय सो ते बड़ा उत्सवका अवसर है। तैसे यह आत्मा अपने स्वरूपमें तिष्ठता ही इस जीर्ण देहरूपी कुटीको छोड़ नवीन देहरूपी महलको प्राप्त होते महा उत्सवका अवसर है। इसमें कोई हानि नहीं, जो भय किया जाय। अर जो अपने ज्ञायक स्वभावमें तिष्ठते परसे ममत्वरहित हो करके परलोक जावोगे तो बड़ा आदर-सहित दिव्य, धातु-उपधातु-रहित, वैक्रयिक देहमें देव होय अनेक महर्द्धिकनिमें पूज्य महान् देव होवोगे। अर जो यहाँ भयादि

कर अपना ज्ञान-स्वभावको बिगाड़ परमें ममत्व धार मरोगे तो एकेन्द्रियादिके देहमें अपना ज्ञानका नाश कर जड़ रूप होय तिष्ठोगे। अतः ऐसे मलीन क्लेश-सहित देहको त्याग क्लेशरहित उज्ज्वल देहमें जाना तो बड़ा उत्सवका कारण है ॥३॥

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात् दृश्यते पूर्व-सत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्यु-भीतिः कुतः सताम् ॥४॥

अर्थ—पूर्वकालमें भये गणधरादि सत्पुरुष ऐसे दिखावे हैं, कि मृत्युसे भले प्रकार दिया हुवाका फल पाइये है। अर स्वर्ग लोकका सुख भोगिए हैं। इसलिए सत्पुरुषनिकों मृत्युका भय क्यों होय।

भावार्थ—अपने कर्त्तव्यका फल तो मृत्यु भए ही पाइये हैं, जो आप छः कायके जीवनिको अभयदान दिया, अर रागद्वेष, काम, क्रोधादिका घातकर, असत्य, अन्याय, कुशील, परधन हरणका त्यागकर, अर संतोष धारणकर, अपने आत्माको अभयदान दिया उसका फल स्वर्गलोक बिना कहाँ भोगनेमें आवे। सो स्वर्गलोकके सुख तो मृत्यु नाम मित्रके प्रसादते ही पाइये है। तातें मृत्यु समान इस जीवका कोई उपकारक नाहीं। इस मनुष्य पर्यायका जीर्ण देहमें कौन कौन दुःख भोगता, कितने काल रहता और आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करके तिर्यञ्च, नर्कमें जाय पड़ता। इसलिये अब मरणका भयकरि, अर देह, कुटुम्ब, परिग्रहका ममत्वकरि, चिंतामणी-कल्पवृक्ष समान समाधिमरणको बिगाड़ भयसहित, ममतावान हुवा कुमरण कर, दुर्गति जावना उचित नाही ॥४॥

आगर्भाद्दुःख-संतप्तः प्रक्षिप्तो देह-पंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु-भूमिपतिं विना ॥५॥

अर्थ—यह हमारा कर्म-शत्रु मेरी आत्माको देहरूपी पींजरेमें क्षेप्या, सो गर्भमें आया तिस क्षणतें सदाकाल क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग इत्यादि अनेक दुःखनि कर व्याप्त इस देहरूपी पींजरामें रक्खा। उससे मुझे मृत्यु नामा राजा बिना कौन छुड़ावे।

भावार्थ—इस देहरूपी पींजरामें, मैं कर्मरूपी शत्रुद्वारा पटक्या हुवा, इन्द्रियनिके आधीन हुवा, नाना त्रास सहूँ। नित्य ही क्षुधा अर तृषाकी वेदना त्रास देवे है। अर शाश्वती श्वास उच्छ्वास खेंचना अर काढ़ना अर नानाप्रकार रोगोंका भोगना, अर उदर भरनेके वास्ते अनेक प्रकार पराधीनता सहना, अर सेवा, कृषि, वाणिज्यादि करि महा क्लेशित होय रहना अर शीत उष्णके दुःख सहना, अर दुष्टों द्वारा ताड़न, मारन, कुवचन, अपमान सहना, कुटुम्बके आधीन रहना, धनके, राज्यके, स्त्री-पुत्रादिकके आधीन, ऐसे महान बन्दीगृह समान देहमेंसे मरण नामा बलवान राजा बिना कौन निकाले। इस देहको कहांताई वँहता, जिसको नित्य उठावना, बैठावना, भोजन करावना, जल पावना, स्नान करावना, निद्रा लिवावना, कामादिक विषय साधन करावना, नाना वस्त्र आभूषण कर भूषित करना, रात-दिन इस देह हीका दासपना करता हूँ। आत्माको नाना प्रकार त्रास देवे है, भयभीत करे है, आपा भुलावे है। ऐसे कृतघ्न देहसे निकलना मृत्यु नामा राजा बिना नहीं होय। जो ज्ञान-सहित, देहसों ममता छांडि, सावधानीतें धर्म ध्यानि सहित, संक्लेश रहित, वीतराग पूर्वक, जो समाधिमृत्यु नामा राजाका सहाय ग्रहण करूँ, तो फिर मेरा आत्मा देह धारण नहीं करे, दुःखोंका पात्र नहीं होय। समाधि-मरण नामा राजा बड़ा न्यायमार्गी है। मुझे इसीका शरण होहू। मेरे अपमृत्युका नाश होउ ॥५॥

सर्व-दुःख-प्रदं पिण्डं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्यु-मित्र-प्रसादेन, प्राप्यते सुख-सम्पदः ॥६॥

अर्थ—आत्मदर्शी, जो आत्म-ज्ञानी हैं, ते मृत्यु नामा मित्रका प्रसाद करि सर्व दुःखका देनेवाला देह पिंडको दूरी छांड़ कर सुखकी संपदाको प्राप्त होय हैं।

भावार्थ—आत्म-ज्ञानि समाधिमरणके प्रभावसे, सप्त धातुमई महान अशुचि विनाशीक देहको छोड़, दिव्य वैक्रियिक शरीरमें प्राप्त होकर नाना सुख-संपदाको प्राप्त होय हैं। समाधिमरण समान इस जीवका उपकार करने-

वाला कोई नहीं है। इस देहमें नाना-प्रकार दुःख भोगते हुवे, महान रोगादि दुःख भोग मरते हुवे, फिर तिर्यञ्च नर्क देहमें असंख्यात, अनन्तकाल ताईं असंख्यात दुःख भोगते हुवे और जन्ममरणरूप अनन्त परिवर्तन करते तहाँ कोई शरण नहीं है। इस संसार परिभ्रमणसे रक्षा करनेको कोई समर्थ नहीं। कदाचित् अशुभ कर्मका मंद उदयसे मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रिय-पूर्णता, सत्पुरुषोंका समागम तथा भगवान जिनेन्द्रके परमागमका उपदेश पाया है, तो श्रद्धान, ज्ञान, योग, संयम हित, समस्त कुटुम्ब, परिग्रहमें ममत्व रहित, देहसे भिन्न ज्ञानस्वभावरूप आत्माका अनुभव करके, भय रहित, चार आराधनाका शरण सहित मरण हो जाय तो इस समान त्रैलोकमें इस जीवका कोई हितु नहीं। जो संसार-परिभ्रमणसे छूट जाना सो समाधिमरणनामा मित्रका प्रसाद है ॥६॥

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥७॥

अर्थ—जो जीव, मृत्युनामा कल्पवृक्षको प्राप्त होते हुवे अपना कल्याण नहीं सिद्ध किया, सो जीव संसाररूपी कर्दममें डूबा हुवा पीछे कहा करसी।

भावार्थ—इस मनुष्य जन्ममें मरणका संयोग है सो साक्षात् कल्पवृक्ष है। जो वांछित लेना होय सो लेहू। जो ज्ञान सहित अपना निज स्वभावको ग्रहणकरि आराधना सहित मरण करो तो स्वर्गका महर्द्धिकपणा, इन्द्रपणा, अहमिन्द्रपणा पाय पीछे तीर्थंकर तथा चक्री आदि होय निर्वाण पावो। मरण समान त्रैलोक्यमें दाता नहीं। ऐसे दाताको पायकर विषयकी वांछा अर कषाय सहित ही रहोगे तो विषय-कषायका फल नर्क-निगोद है। मरण-नामा कल्पवृक्षको बिगाड़ोगे तो ज्ञानादि अक्षय निधान रहित होकर संसार रूप कर्दममें डूब जावोगे। भो भव्य हो जो थे वांछाका मारया हुवा खोटे नीच पुरुषोंका सेवन करो हो, अति लोभी भये धन वास्ते विषय भोगोंके लिये हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहमें आसक्त भये निंद्य कर्म करो हो, तोहू वांछित पूर्ण नही होय है, अर दुःखसे मरण करो हो। कुटुम्बादिको

छोड़ विदेशमें परिभ्रमण करो हो, निंद्य आचरण करो हो अर निंद्य कर्म करके हू अवश्य मरण करो हो। अर जो एक बार हू समता धारण कर, त्याग-व्रत-सहित मरण करो तो फिर संसार-परिभ्रमणका अभाव कर, अविनाशी सुखको प्राप्त हो जाउ। इस वास्ते ज्ञान-सहित पंडित-मरण करना उचित है ॥७॥

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥८॥

अर्थ—जिस मृत्युसे जीर्ण देहादिक सर्व छूट नवीन हो जाय सो मृत्यु सत्पुरुषनिके साताका उदयकी ज्यों हर्षके अर्थ नहीं होय कहा? अर्थात् ज्ञानीके तो मृत्यु हर्षके अर्थ ही है।

भावार्थ—यह मनुष्यको शरीर नित्य ही समय-समय जीर्ण होय है। देवोंके देहकी ज्यों जरा-रहित नहीं है। दिन-दिन बल घटे है, कांति, रूप मलीन होय हैं, स्पर्श कठोर होय हैं। समस्त नसोंके हाड़ोंके बंधान शिथिल होय हैं। चाम ढीली होय, मांसादिको छोड़ ज्वरली रूप होय है। नेत्रोंकी उज्ज्वलता बिगड़े है। कर्णमें श्रवण करनेकी शक्ति घटे है। हस्तपादादिकमें असमर्थता दिन-दिन बधे है। गमन-शक्ति मंद होय है। रोग अनेक बधे हैं। ऐसे जीर्ण देहका दुःख कहां तक भोगता, जिसमें चालते, बैठते स्वास बधे है, कफकी अधिक्यता होय है। ऐसे देहका घीसना कहां तक होता? मरण नामा दातारके बिना ऐसे निंद्य देहको छुड़ाय नवीन देहमें वास कौन करावे? जीर्ण देहमें बड़ा असाताका उदय भोगिये हैं, सो मरणनामा मित्र उपकारी दाता बिना ऐसी असाताको कौन दूर करे। इस लिये सम्यक् ज्ञानीके तो मृत्यु होनेका बड़ा हर्ष है। वह तो संयम, व्रत, त्याग, शीलमें सावधान होय ऐसा उपाय करे जो फिर ऐसे दुःखका भरया देहको धारण नहीं करे। सम्यक्-ज्ञानी तो याहीको महा साताका उदय माने हैं ॥८॥

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेन्।
मृत्यु-भीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥९॥

अर्थ—यह आत्मा देहमें तिष्ठताहू सुखको तथा दुःखको सदाकाल जाणे ही है। अर परलोक प्रति हू स्वयं गमन करे है। तो परमार्थते मृत्युका भय कौनके होय।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा है सो तो देहमें तिष्ठता हू मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मरूं हूँ, मैं क्षुधावान, मैं तृषावान, मेरा नाश हुवा, ऐसा माने हैं। अर अन्तर-आत्मा सम्यग्दृष्टि ऐसे माने है जो उपज्या है सो मरेगा—पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, पुद्गल परमाणुनिके पिंड रूप उपज्यो यह देह सो विनशेगा। मैं ज्ञानमई अमूर्तीक आत्मा मेरा नाश कदाचित् नहीं होय। ये क्षुधा, तृषा, वात-पित्त-कफादि रोगमय वेदना पुद्गलके हैं। मैं इनका ज्ञाता हूँ। मैं यामें अहङ्कार वृथा करूँ हूँ। इस शरीरके अर मेरे एक क्षेत्रमें तिष्ठने रूप अवगाह है। तथापि मेरा रूप ज्ञाता है, शरीर जड़ है। मैं अमूर्तीक, देह मूर्तीक है। मैं अखण्ड हूँ, शरीर अनेक परमाणुओंका पिंड है। मैं अविनाशी हूँ, देह विनाशीक है। अब इस देहमें जो रोग तथा क्षुधादि उपजे तिसका ज्ञाता ही रहना, क्योंकि मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है। परमें ममत्व करना सो ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है। अर जैसे एक मकानको छोड़ अन्य मकानमें प्रवेश करे, तैसे मेरे शुभ-अशुभ भावनिकरि उपजाया कर्म करि रच्या अन्य देहमें मेरा जाना है। इसमें मेरा स्वरूपका नाश नहीं। अतः निश्चय-कर विचारिये तो मरणका भय कौनके होय ॥९॥

संसारासक्त-चित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्य-वासिनां ॥१०॥

अर्थ—संसारमें जिनका चित्त आसक्त है, अपने रूपको जो जाने नहीं तिनके मृत्यु होना भयके अर्थि है। अर जो निज स्वरूपके ज्ञाता हैं अर संसारसे विरागी हैं तिनके तो मृत्यु हर्षके अर्थि है॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शनके उदयसे जो आत्मज्ञानकर रहित, देहमें ही आपा माननेवाले, और खाने-पीने काम-भोगादिक इन्द्रियनिके विषयोंमें ही सुख माननेवाले बहिरात्मा हैं, तिनके तो अपना मरण होना बड़ा भयके

अर्थि है। जो हाय मेरा नाश भया फेर खाना-पीना कहाँ। नहीं जानिये मेरे पीछे कहा होयगा। अब यह देखना मिलना, कुटुम्बका समागम सब गया। अब कौनका शरण ग्रहण करूँ, कैसे जीऊं ऐसे मा संक्लेशकर मरे हैं। अर जो आत्मज्ञानी हैं तिनके मृत्यु आये ऐसा विचार उपजे है जो मैं देहरूप बन्दीगृहमें पराधीन पड़ा हुवा, इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहकी दाह करि अर मिले हुवे विषयमें अतृप्ताकरि, अर नित्य ही क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, रोगोंसे उपजी महावेदनाकरि, एक क्षण हू थिरता नहीं पाई। महान् दुःख, पराधीनता, अपमान, घोर वेदना, अनिष्ट-संयोग, इष्ट-वियोग भोगता महाक्लेशते काल व्यतीत किया। अब ऐसे क्लेशसे छुड़ाय, पराधीनता-रहित अनन्त सुखस्वरूप जन्म-मरण-रहित अविनाशी स्थानको प्राप्त करनेवाला यह मरणका अवसर पाया है। यह मरण महासुखका देनेवाला अत्यन्त उपकारक है। अर इससे विपरीत संसारवास केवल दुःखरूप है। इसमें एक समाधिमरण ही शरण है। और कहीं ठिकाना नहीं है। इस बिना चारों गतिमें महात्रास भोगी है। अब संसारवाससे अति विरक्त मैं समाधिमरणको ग्रहण करूँ हूँ ॥१०॥

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया।
तदाऽसौ वार्यते केन प्रपञ्चैः पाञ्चभौतिकैः ॥११॥

अर्थ—जिस कालमें यह आत्मा अपने कियेको भोगनेकी इच्छा कर परलोकको जाय है, तब यह पंचभूत सम्बन्धी देहादिक प्रपंच क्योंकर रोकनेमें समर्थ हैं।

भावार्थ— इस जीवका वर्तमान आयु पूर्ण हो जाय अर जो अन्य लोक-सम्बन्धी आयुका यदि उदय आ जाय तब परलोकको गमन करनेको शरीरादि पंचभूत कोउ रोकनेमें समर्थ नहीं हैं। तातें बहुत उत्साह सहित चार आराधनाका शरण ग्रहणकर मरण करना श्रेष्ठ है ॥११॥

मृत्यु-काले सतां दुःखं यद्भवेद् व्याधि-सम्भवम्।
देह-मोह-विनाशाय मन्ये शिव-सुखाय च ॥१२॥

अर्थ—मृत्युका अवसर विषें जो पूर्व कर्मके उदयसे रोगादि व्याधिकर दुःख उत्पन्न होय है सो सत्पुरुषोंके शरीरसे मोहके नाशके अर्थि है अर निर्वाणके सुखके लिये है।

भावार्थ—यह जीव जन्म लिया जिस दिनसे देहसो तन्मय हुवा यामें बसे हैं। अर यामें बसनेको ही बड़ा सुख माने हैं। याको अपना निवास जाने है। इस ही से ममता लग रही है। इसमें बसने सिवाय अपना कहीं ठिकाना नहीं देखे हैं। अब ऐसा देहमें जो रोगादि दुःख उपजे हैं तब सत्पुरुषोंके इससे मोह नष्ट हो जाय है। अर साक्षात् दुःखदाई, अथिर बिनाशीक दीखे हैं। अर देहका कृतघ्नपणा प्रगट दीखे हैं। तब अविनाशी पदके अर्थ उद्यमी होय है, वीतरागता प्रगट होय है। उस समय ऐसा विचार उपजे है जो इस देहकी ममताकर मैं अनन्तकाल जन्म-मरण कर अनेक वियोग, रोग, संतापादिसे नर्कादि गतियोंमें दुःख भोगे। अर अब भी ऐसा दुःखदाई देहमें ही ममत्वकर आपाको भूल एकेन्द्रियादि अनेक कुयोनिमें भ्रमणका कारण कर्म उपार्जन करनेको उद्यम करूं हूँ, सो अब इस शरीरमें ज्वर, खास, स्वास, शूल, वात, पित्त, अतीसार, मन्दाग्नि इत्यादि रोग उपजे हैं, सो इस देहमें ममता घटावने अर्थ बड़ा उपकार करे हैं, धर्ममें सावधान करे हैं। जो रोगादि नहीं उपजता तो मेरी ममताहू नहीं घटती, अर मद भी नहीं घटता। मै तो मोहकी अन्धेरीकर आंधा हुवा, देहको अजर-अमर मान रहा था, सो रोगोने मुझे चेत कराया। अब इस देहको अशरण जान, ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप ही का एक निश्चय शरण जान आराधनाका धारक भगवान परमेष्ठीको चित्तमें धारण करूं हूँ। अब इस वक्त हमारे एक जिनेन्द्रका वचन-रूप अमृत ही परम औषध होहू। जिनेन्द्र वचनामृत बिना विषय-कषायरूप रोगजनित दाहको मेटनेको कोऊ समर्थ नहीं। बाह्य औषधि तो असाता कर्मके मन्द होते किंचित्काल कोई एक रोगको उपशम करे है। अर यह देह रोगोंसे भरचा हुवा है, सो कदाचित् एक रोग मिट्या तौहू अन्य रोग-जनित घोर वेदना भोग फिर मरण करना पड़ेगा। इसलिये जन्म-जरामरण रूप रोगको हरनेवाले भगवानका उपदेशरूप अमृत ही पान करूं हूँ। अर

औषधादि हजारां उपाय करते भी विनाशीक देहमें रोग नहीं मिटेगा, इसलिये रोगसे आर्ति उपजाय कुगतिका कारण दुर्ध्यान करना उचित नाहीं। रोग आवतेहू बड़ा हर्ष ही मानो, जो रोगहीके प्रभावतें ऐसा जीर्ण गल्या हुआ देहसे मेरा छूटना होयगा। रोग नहीं आवे तो पूर्वकृत कर्म नहीं निर्जरे। अर देहरूप महादुर्गन्ध बन्दीगृहसे मेरा शीघ्र छूटना ही नहीं होय। अर यह रोगरूप मित्रको सहाय ज्यों-ज्यों देहमें बधे हैं त्यों-त्यों मेरा रोग बन्धनसे, कर्म-बन्धनसे अर शरीरबन्धनसे छूटना शीघ्र होय है। अर यह रोग तो देहमें है सो इस देहको नष्ट करेगा। मैं तो अमूर्तीक चैतन्य-स्वभाव अविनाशी हूँ ज्ञाता हूँ। अर जो यह रोग-जनित दुःख मेरे आवें जाननेमें है सो मैं तो जानने वाला ही हूँ। याकी लार मेरा नाश नहीं है। जैसे लोहकी संगतिसे अग्नि हू घनोंकी घात सहे हैं, तैसे शरीरकी संगतिसे वेदनाका जानना मेरे हू है। अग्निसे झोपड़ी जले है, झोपड़ीके मांही आकाश नहीं जले है। तैसे अविनाशी अमूर्त्त चैतन्य धातुमई मैं आत्मा ताका रोगरूप अग्निकर नाश नहीं है। अर अपना उपजाया कर्म आपको भोगना ही पड़ेगा। कायर होय भोगूँगा, तों कर्म नहीं छोड़ेगा। अर धीरज धारण कर भोगूँगा, तो कर्म छोड़ेगा। तातें कायरताको धिक्कार होहू, कर्मका नाश करनेवाला धैर्य ही धारण करना श्रेष्ठ है। अर हे आत्मन्, तुम रोग आये इतने कायर होते हो, सो विचार करो, नरकोंमें इस जीवने कौन-कौन त्रास भोगी, असंख्यातबार, अनन्तबार मारे, बिदारे, चीरे-फाड़े गये हो, यहाँ तो तुम्हारे कहा दुःख है। अर तिर्यंच गतिके घोर दुःख भगवान ज्ञानी हू वचन द्वारा कहनेको समर्थ नहीं। अनन्तबार अग्निमें जलि मर्‍या हूँ, अनन्तवार जलमें डूब-डूब मरया हूँ, अनन्तबार विषभक्षणकर मर्‍या हूँ, अनन्तबार सिंह, व्याघ्र, सर्पादिक करि बिदार्‍या हूँ, शस्त्रोंकर छेद्या गया हूँ, अनन्तबार शीत नवेदाकर मर्‍या हूँ, अनन्तबार उष्ण-वेदनाकर मर्‍या हूँ, अनन्तबार क्षुधाकी वेदनाकर मर्‍या हूँ, अनन्तबार तृषावेदनाकर मर्‍या हूँ। अब यह रोगजनित वेदना कितनीक है। रोग ही मेरा उपकार करे हैं। रोग नहीं उपजता तो देहसे मेरा स्नेह नहीं घटता, अर समस्तसे छूट परमात्माका शरण नहीं ग्रहण करता। तातें इस अवसरमें जो रोग

है, तोहू मेरा आराधनामरणमें प्रेरणा करनेवाला मित्र है। ऐसा विचारता ज्ञानी रोग आये क्लेश नहीं करे हैं। मोहका नाश होनेका उत्सव ही माने है ॥१२॥

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा ॥१३॥

अर्थ—यद्यपि इस लोकमें मृत्यु है सो जगतको आताप करनेवाला है तोहू सम्यग्ज्ञानीके अमृतसंग जो निर्वाण ताके अर्थ है। जैसे कचा घड़ा अग्निमें पकवाना है, सो अमृतरूप जलके धारणके अर्थि है। जो काचा घड़ा अग्निमें एक बार पक जाय तो बहुत काल जलका संसर्गको प्राप्त होय। तैसे मृत्युका अवसरमें आताप समभावकर एक बार सह जाय तो निर्वाणका पात्र हो जाय।

भावार्थ अज्ञानीके मृत्युका नामसे भी परिणाममें आताप उपजे हैं। जो मैं चल्या, अब कैसे जीऊँ, कहा करूँ, कौन रक्षा करे, ऐसे संतापको प्राप्त होय है। क्योंकि अज्ञानी तो बहिरात्मा है, देहादि बाह्य वस्तुको ही आत्मा माने हैं। अर ज्ञानी जो सम्यग्दृष्टि है, सो ऐसा माने हैं जो आयुकर्मादिका निमित्ततें देहका धारण है, सो अपनी स्थितिपूर्ण भये अवश्य विनशेगा। मैं आत्मा अविनाशी ज्ञानस्वभाव हूँ। जीर्ण देहको छांड़ि नवीनमें प्रवेश करते मेरा कुछ विनाश नहीं है ॥१३॥

यत्फलं प्राप्यते सद्भिः व्रतायासविडम्बनात्।
तत्फलं सुख-साध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥१४॥

अर्थ—सत्पुरुष व्रतोंके बड़े खेदको प्राप्तकर जिस फलको प्राप्त होय हैं सो फल मृत्युका अवसरमें थोड़े काल शुभध्यानरूप समाधिमरणकर सुखसे साधने योग्य होय है।

भावार्थ—जो स्वर्गोंमें इन्द्रादि पदवी, परम्पराय निर्वाणपद, पंचमहाव्रतादि घोर तपस्याकर सिद्धि करिये हैं सो पद मृत्युका अवसरमें देह, कुटुम्बादि परिग्रहसूँ ममता छाँड़ि भयरहित हुवा, वीतरागता सहित, चार आराधनाका शरण ग्रहणकर, कायरता छाँड़ि, अपने ज्ञायक स्वभावको अव-

लंबनकर, मरण करे तो सहज सिद्ध होय है। तथा स्वर्गलोकमें महर्द्धिक देव होय। तहाँसे आय बड़ा कुलमें उपजि उत्तम संहननादि सामग्री पाय दीक्षा धारणकर अपने रत्नत्रयको पूर्णताको प्राप्त होय निर्वाण जाय है ॥१४॥

अनार्त्तः शान्तिमान्मर्त्यो न तिर्यग्नापि नारकः।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः ॥१५॥

अर्थ—जाके मरणका अवसरमें आर्त्त जो दुःखरूप परिणाम न होय अर शान्तिमान कहिये राग-द्वेषरहित समभावरूप चित्त होय, सो पुरुष मरण करि नारकी नहीं होय, तिर्यंच नहीं होय। अर जो धर्मध्यानसहित, अनशनव्रत धारण करके मरे तो स्वर्गलोकमें इन्द्र होय तथा महर्द्धिक देव होय, अन्य पर्याय नहीं पावे, ऐसा नियम है।

भावार्थ—यह उत्तम मरणके अवसरको पाय करके आराधना सहित मरणमें यत्न करो। अर मरण आवते भयभीत होय, परिग्रहमें ममत्वधार, आर्तपरिणामसूं मरि कुगतिमें मत जावो। यह अवसर अनन्त भवोंमें नहीं मिलेगा। और यह मरण छोड़ेगा नहीं। तातैं सावधान होय धर्मध्यान-सहित धैर्य धारणकर देहका त्याग करो ॥१५॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥१६॥

अर्थ—तपका संताप भोगना, व्रतका पालना, श्रुतका अभ्यास करना यह संपूर्ण आत्माकी सावधानी-सहित मरण करने अर्थ है।

भावार्थ—हे आत्मन् जो तुमने इतने कालतक इन्द्रियोंके विषयोंमें वांछा रहित होय अनशनादि तप किया है, सो अन्तकालमें आहारादिकका त्याग सहित, संयम सहित, देहकी ममता रहित, समाधिमरणके अर्थ किया है। अर जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्यागादिव्रत धारण किये हैं, सो भी समस्त देहादिक परिग्रहमें ममताका त्यागकर, समस्त शत्रु-मित्रमें वैर, राग छाँड़ि कर, उपसर्गमें धैर्यता धारणकर, अपना एक ज्ञान-स्वभावको अवलंबनकर, समाधिमरणके अर्थ ही किये हैं। अर जो समस्त श्रुतज्ञानका

पठन किया है सोहू क्लेश-रहित, धर्मध्यान-सहित, देहादिकसे भिन्न आपको जान, भय-रहित समाधिमरणके निमित्त ही विद्याकी आराधनाकर काल व्यतीत किया है। अर अब मरणका अवसरमें हू ममता, भय, राग-द्वेष, कायरता, दीनता नहीं छोड़ूँगा तो इतने काल तप कीने, व्रत पाले, श्रुतका अध्ययन किया सो समस्त निरर्थक होय। तातैं इस मरणके अवसरमें कदाचित् सावधानी मत बिगाड़ो ॥१६॥

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
चिरतर-शरीर-नाशे नवतर-लाभे च किं भीरुः ॥ १७ ॥

अर्थ—लोकनिका ऐसा कहना है कि जिस वस्तुसूं अतिपरिचय, अति सेवन हो जाय तिसमें अवज्ञा, अनादर हो जाय है, रुचि घट जाय है, अर नवीन संगममें प्रीति होय है, यह बात प्रसिद्ध है। अर हे जीव तू इस शरीरको चिरकालसे सेवन किया, अब याका नाश होते, अर नवीन शरीरका लाभ होते भय कैसे करो हो। भय करना उचित नाहीं।

भावार्थ--जिस शरीर को बहुत काल भोग जीर्ण कर दिया अर सार-रहित, बल-रहित होय गया। अब नवीन उज्ज्वल देह धारण करने का अवसर पाया, तब भय कैसे करो हो। यह जीर्ण देह तो विनशैहीगो। इसमें ममता धारि मरण बिगाड़ दुर्गतिका कारण कर्मबन्ध मत करो ॥ १७ ॥

स्वर्गादेत्य पवित्र-निर्मल-कुले संस्मर्यमाणा जनैः।
दत्वा भक्ति-विधायिनां बहुविधं वांछानुरूपं धनं (फलं)।
भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले।
पात्रावेशविसर्जनामिव मृतिं संतो लभन्ते स्वतः ॥ १८ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो भय-रहित होय, समाधिमरणमें उत्साह-सहित च्यार आराधनाको आराधि मरण करे है, उसकी स्वर्गलोक बिना अन्य गति नहीं होय है। स्वर्गमें भी महर्द्धिक देव ही होय है, ऐसा निश्चय है। बहुरि स्वर्गमें आयुका अंतपर्यन्त महासुख भोग करके इस मध्यलोक विषे पुण्यरूप निर्मल कुलमें अनेक लोक द्वारा चिंतवन करते करते जन्म लेय, अपने सेवक-जन

तथा कुटुम्ब, परिवार, मित्रादिकको नाना प्रकारके वाछित धन, भोगादिरूप फल देय, अपने पुण्यकरि उपजे भोगोंको निरंतर भोग, आयुप्रमाण थोड़े काल पृथ्वीमंडलमें संयमादिसहित, वीतराग रूप भए, जिस प्रकार नृत्यके अखाड़ेमें नृत्य करनेवाला पुरुष लोगोको आनन्द उपजाय जाय है तैसे स्वयमेव देहत्याग निर्वाणको प्राप्त होय है ।। १८ ।।

दोहा—मृत्यु-महोत्सव-वचनिका, लिखी सदासुख-काम ।
शुभ आराधन मरण करि, पाऊँ निज-सुख-धाम ।। १ ।।
उगणीसे ठारा शुकल, पंचमि मास असाढ़ ।
पूरण लखि वांचो सदा, मन धरि सम्यक् गाढ़ ।। २ ।।

————

पण्डित द्यानतराजी कृत—

३. (ख) समाधि-मरण भाषा

(जोगीरासा व नरेन्द्र छन्द)

गौतम स्वामी बन्दौं नामी, मरण-समाधि भला है।
मैं कब ताऊँ निश-दिन ध्याऊँ, गाऊँ वचन-कला है॥
देव-धर्म-गुरु प्रीति महा दृढ़, सात व्यसन नहीं जाने।
तजि बाईस अभक्ष संयमी, बारह व्रत नित ठाने॥१॥

चक्की उखरी चूली बुहारी, पानी, त्रस न विराधै।
बनिज करे, पर द्रव्य हरे नहि, छहों करनि इमि साधै॥
पूजा शास्त्र, गुरुनकी सेवा, संयम, तप, चउदानी।
पर-उपकारी अल्प-अहारी, सामायिक-विधि ज्ञानी॥२॥

जाप जपै तिहुँ योग धरै दृढ़, तनकी ममता टारै।
अन्त समय वैराग्य सम्हारै, ध्यान समाधि विचारै॥
आग लगै अरु नाव डुबै जब, धर्म विघन जब आवै।
चार प्रकार अहार त्यागिके, मन्त्र सु-मनमें ध्यावै॥३॥

रोग असाध्य जहाँ बहु देखै, कारण और निहारै।
बात बड़ी है जो बनि आवै, भार भवनको डारै॥
जो न बनै तो घरमें रह करि, सबसों होय निराला।
मात-पिता-सुत-तियको सौंपै, निज परिग्रह अहि-काला॥४॥

कछु चैत्यालय, कछु श्रावक-जन, कछु दुखिया धन देई।
'क्षमा-क्षमा' सबहीसों कहिके, मनकी शल्य हनेई॥
शत्रुनसों मिलि निज कर जोरै, मैं बहु करि है बुराई।
तुम-से प्रीतमको दुख दीने, ते सब बक सो भाई॥५॥

धन धरती जो मुखसों मांगै, सो सब ही संतोषै।
छहों कायके प्राणी ऊपर, करुणा-भाव विशेषै॥
ऊँच-नीच घर बैठ जगह इक, कछु भोजन कछु पैलै।
दूधाहारी क्रम-क्रम तजिकै, छाँछ अहार पहेलै॥६॥

छाँछ त्यागिके पानी राखै, पानी तजि संथारा।
भूमि मांहि थिर आसन मांड़ै, साधर्मी ढिग प्यारा॥
जब तुम जानो यह न जपै है, तब जिनवानी पढ़िये।
यों कहि मौन लियौ संन्यासी, पञ्च परम-पद गहिये॥७॥

चौ आराधन मनमें ध्यावै, बारह भावन भावै।
दश-लक्षण उर धर्म विचारै, रत्नत्रय मन ल्यावै॥
पैंतीस सोलह षट् पन चौ दुइ, एक वरन विचारै।
काया तेरी दुखकी ढेरी, ज्ञानमयी तू सारै॥८॥

अजर अमर निज गुणसों पूरै, परमानन्द सुभावै।
आनन्दकन्द चिदानन्द साहब, तीन-जगत-पति ध्यावै॥
क्षुधा-तृषादिक होईं परीषह, सहै भाव सम राखै।
अतीचार पाँचों सब त्यागै, ज्ञान-सुधा-रस चाखै॥९॥

हाड़ मांस सब सूखि जाय जब, धरम लीन तन त्यागै।
अद्भुत पुण्य उपाय सुरगमैं, सेज उठै ज्यों जागै॥
तहँ तैं आवै शिव-पद पावै, विलसै सुक्ख अनन्तो।
'द्यानत' यह गति होय हमारी, जैनधरम जैवन्तो॥१०॥

पण्डित सूरचन्दजी कृत—

३. (ग) समाधि-मरण भाषा

(नरेन्द्र छन्द)

बन्दौं श्री अरहन्त परम गुरु, जो सबको सुखदाई।
इस जगमें दुख जो मैं भुगते, सो तुम जानों राई॥
अब मैं अरज करौं प्रभु तुमसे, कर समाधि उर मांही।
अन्त समयमें यह वर माँगूं, सो दीजे जगराई॥१॥

भव-भवमें तन धार नये मैं, भव-भव शुभ संग पायो।
भव-भवमें नृप-ऋद्धि लई मैं, मात पिता सुत थायो॥
भव-भवमें तन पुरुषतनो धर, नारी हू तन लीनो।
भव-भवमें मैं नपुंसक हूवो, आतम-गुण नहिं चीनो॥२॥

भव-भवमें सुर-पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव-भवमें गति नरक-तनी धर, दुख पायो विध-योगे॥
भव-भवमें तिर्यञ्च योनि धर, पाये दुख अति भारी।
भव-भवमें साधर्मी जनको, संग मिलो हितकारी॥३॥

भव-भवमें जिन-पूजन कीनी, दान सुपात्रहि दीनो।
भव-भवमें समवशरण मैं, देख्यो जिन-गुण भीनो॥
एती वस्तु मिली भव-भवमे, सम्यक् गुण नहिं पायो।
ना समाधि-युत मरण कियो मैं, तातें जग भरमायो॥४॥

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहि कीनो।
एकवार हू सम्यक् युत मैं, निज आतम नहिं चीनो॥
जो निज-परको ज्ञान होय तो, मरण समय दुख काई।
देह विनासी, मैं निज भासी, ज्योति स्वरूप सदाई॥५॥

विषय-कषायनके वश होकर, देह आपनो जानो।
कर मिथ्या सरधान हिये बिच, आतम नाहिं पिछानो॥
यों क्लेश हिय धार मरण कर, चारों गति भरमायो।
सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चरन ये, हिरदेमें नहिं लायो॥६॥

अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह मांगो।
रोग जनित पीड़ा मत होहू, अरु कषाय मत जागो॥
ये मुझ मरण समय दुख दाता, इन हर साता कीजे।
जो समाधि-युत मरण होय मुझ, अरु मिथ्या-गद छीजे॥७॥

यह तन सात कुधातमई है, देखत ही घिन आवै।
चर्म लपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्ठा पावै॥
अति दुर्गन्ध, अपावन सों यह, मूरख प्रीति बढ़ावै।
देह विनाशी, यह अविनाशी, नित्य स्वरूप कहावै॥८॥

यह तन जीर्ण कुटी सम आतम! यातैं प्रीति न कीजै।
नूतन महल मिले जब भाई, तब यामें क्या छीजै॥
मृत्यु भयेतें हानि कौन है, याको भय मत लावो।
समतासे जो देह तजोगे, तो शुभ तन तुम पावो॥९॥

मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, इस अवसरके माँही।
जीरन तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं॥
यासेती इस मृत्यु समयपर, उत्सव अति ही कीजै।
क्लेश-भावको त्याग सयाने, समता-भाव धरीजै॥१०॥

जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु-मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग-सम्पदा भाई॥
राग-द्वेषको छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई।
अन्त समयमें समता धारो, परभव पंथ सहाई॥११॥

कर्म महा दुठ बैरी मेरो, तासेती दुख पावै।
तन पिंजरेमें बन्द कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै॥
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तनमें गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दया कर, तन पिंजरेसे काढ़े॥१२॥

नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तनको पहिराये।
गन्ध सुगन्धित अतर लगाये, षट्रस अशन कराये॥
रात-दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी॥१३॥

मृत्युराजको शरण पाय तन, नूतन ऐसो पाऊँ।
जामें सम्यक् रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ॥
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाहीं।
मृत्यु-समयमें ये ही परिजन, सब ही हैं दुखदाई॥१४॥

यह सब मोह बढ़ावनहारे, जियको दुर्गति-दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख-साता॥
मृत्यु-कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करौ तो, पावो सम्पति तेती॥१५॥

चौ आराधन सहित प्राण तज, तौ ये पदवी पावो।
हरि, प्रतिहरि, चक्री, तीर्थेश्वर, स्वर्ग, मुकतिमें जावो॥
मृत्यु-कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मझारे।
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे॥१६॥

इस तनमें क्या राचे जियरा, दिन-दिन जीरन हो है।
तेज, कान्ति, बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है॥
पाँचो इन्द्री शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहिं आवै।
ता पर भी ममता नहिं छोड़े, समता उर नहिं लावै॥१७॥

मृत्युराज उपकारी जियको, तनसे तोहि छुड़ावै।
नातर या तन-बन्दीगृहमें, परयो-परयो बिललावै॥
पुद्गलके परिमाणू मिलके, पिंडरूप तन भासी।
यही मूरती मैं अमूरती, ज्ञान-ज्योति गुण-रासी॥१८॥

रोग-शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारे।
मैं तो चेतन व्याधि विना नित, है सो भाव हमारे॥
या तनसे इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बनो है।
खान पान दे याको पाषा, अब समभाव ठनो है॥१६॥

मिथ्यादर्शन आत्म-ज्ञान-विन, यह तन अपनो जानो।
इन्द्री भोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछानो॥
तन विनशनतैं नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई।
कुटुम्ब आदिको अपनो जानो, भूल अनादी छाई॥२०॥

अब निज भेद यथारथ समझो, मैं हूँ ज्योति-स्वरूपी।
उपजै विनसै सो यह पुद्गल, जानो याको रूपी॥
इष्ट अनिष्ट जेते सुख दुख हैं, सो सब पुद्गल सागे।
मै जब अपनो रूप विचारो, तब वे सब दुख भागे॥२१॥

विन समता तन नन्त धरे मैं, तिनमे ये दुख पायो।
शस्त्र-घाततैं नन्त बार मर, नाना योनि भ्रमायो॥
बार नन्त ही अग्नि मांहि जर, मूवो सुमति न लायो।
सिंह, व्याघ्र, अहि नन्त बार मुझ, नाना दु.ख दिखायो॥२२॥

विन समाधि ये दु.ख लहे मैं, अब उर समता आई।
मृत्युराजको भय नहिं मानो, देवै तन सुखदाई॥
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजै।
जप-तप-विन इस जगके माँही, कोई भी ना सीजै॥२३॥

स्वर्ग-सम्पदा तपसे पावै, तपसे कर्म नशावै।
तपहीसे शिव-कामिनि-पति है, यासों तप चित लावै॥
अब मैं जानी समता विन मुझ, कोऊ नाहि सुहाई।
मात, पिता, सुत, बांधव, तिरिया, ये सब हैं दुखदाई॥२४॥

मृत्यु-समयमें मोह करैं ये, तातैं आरत हो है।
आरततैं गति नीची पावै, यों लख मोह तजो है॥
और परिग्रह जेते जगमें, तिनसे प्रीति न कीजे।
परभवमें ये संग न चालैं, नाहक आरत कीजे॥२५॥

जे जे वस्तु लसत हैं ते पर, तिनसे नेह निवारो।
परगतिमें ये साथ न चालैं, ऐसो भाव विचारो॥
जो परभवमें संग चलैं तुझ, तिनसे प्रीति सु कीजे।
पंच पाप तज, समता धारो, दान चार विध दीजे॥२६॥

दश-लक्षणमय धर्म धरो उर, अनुकम्पा चित लावो।
षोडश कारण नित्य चिन्तवो, द्वादश भावन भावो॥
चारों परवी प्रोषध कीजे, अशन रातको त्यागो।
समता धर दुर्भाव निवारो, संयमसों अनुरागो॥२७॥

अन्त समयमें ये शुभ भावहिं, होवैं आनि सहाई।
स्वर्ग-मोक्ष फल तोहि दिखावैं, ऋद्धि देहिं अधिकाई॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उरमें समता लाके।
जासेती गति चार दूर कर, बसो मोक्षपुर जाके॥२८॥

मन थिरता करके तुम चिन्तो, चौ आराधन भाई।
ये ही तोकों सुखकी दाता, और हितु कोई नाई॥
आगे बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भाई।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी॥२६॥

तिनमें कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाके।
भाव सहित अनुमोदै तासें, दुर्गति होय न जाके॥
अरु समता जिन उरमें आवै, भाव अधीरज जावै।
यों निशदिन जो उन मुनिवरको, ध्यान हिये विच लावै॥३०॥

धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी।
एक श्यालनी जुग बच्चा जुत, पाँव भख्यो दुखकारी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है? मृत्यु महोत्सव-बारी॥३१॥

धन्य-धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्रीने तन खायो।
तौ भी श्री मुनि नेक डिगे नहिं, आतम सों हित लायो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥३२॥

देखो गजमुनिके सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी।
शीश जले जिम लकड़ी तिनको, तौ भी नाहिं चिगारी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥३३॥

सनतकुमार मुनीके तनमें, कुष्ट बेदना व्यापी।
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिन्तो गुण आपी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥३४॥

श्रेणिक सुत गङ्गामें डूबो, तब जिन नाम चितारो।
धर सल्लेखना परिग्रह छाँड़ो, शुद्ध भाव उर धारो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥३५॥

सुमन्तभद्र मुनिवरके तनमें, क्षुधा वेदना आई।
ता दुखमें मुनि नेक न डिगियो, चिन्तो निज गुण भाई ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥३६॥

ललितघटादिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बी तट जानो।
नदीमें मुनि बहकर मूवे, सो दुख उन नहिं मानो ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥३७॥

धर्मघोष मुनि चम्पा नगरी, बाह्य ध्यान धर ठाढ़ो।
एक मासकी कर मर्यादा, तृषा दु.ख सह गाढ़ो ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुम्हरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥३८॥

श्रीदत मुनिको पूर्व जन्मको, बैरी देव सु आके।
विक्रय कर दुःख शीततनो सो, सह्यो साध मन लाके ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥३९॥

वृषभसेन मुनि उष्ण शिलापर, ध्यान धरो मन लाई।
सूर्य घाम अरु उष्ण पवनकी, वेदन सहि अधिकाई ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥४०॥

अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महा वेदना पाई।
वैरी चंडने सब तन छेदे, दुख दीनो अधिकाई ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी ॥४१॥

विद्युतवर ने बहु दुख पायो, तौ भी धीर न त्यागी।
शुभ भावनसे प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४२॥

पुत्र चिलाती नाना मुनिको, बैरीने तन घातो।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण रातो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४३॥

दंडक नामा-मुनिकी देही, बाणन कर अरि भेदी।
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महा रिपु छेदी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४४॥

अभिनन्दन मुनि आदि पाँच सै, घानी पेलि जु मारे।
तौ भी श्रीमुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४५॥

चाणक मुनि गोधरके माहीं, मूँद अगिनि पर जालो।
श्रीगुरु उर समभाव धारके, अपनो रूप सम्हालो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४६॥

सात शतक मुनिवरने पायो, हथनापुरमें जानो।
बलि ब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी!
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी।४७॥

लोहमयी आभूषण गढ़के, ताते कर पहिराये।
पाँचो पांडव मुनिके तनमें, तौ भी नाहिं चिगाये॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥४८॥

और अनेक भये इस जगमें, समता-रसके स्वादी।
वे ही हमको हों सुखदाता, हर हैं टेव प्रमादी॥
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरण, तप, ये आराधन चारों।
ये ही मोंको सुखकी दाता, इन्हें सदा उर धारों॥४९॥

यों समाधि उर माँही लावो, अपनो हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठों मदको, जोति-स्वरूपी ध्यावो॥
जो कोई निज करत पयानो, ग्रामान्तरके काजै।
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ-शुभ कारण साजै॥५०॥

मात पितादिक सर्व कुटुम्ब सो, नीके शकुन बनावै।
हलदी, धनिया, पुङ्गी, अक्षत, दूध, दही, फल लावै॥
एक ग्रामके कारण एते, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगतिको करत पयानो, तब नहिं सोचें प्यारे॥५१॥

सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावैं सारे।
ये अपशकुन करें सुन तोकों, तूँ यों क्यों न विचारे॥
अब परगतिको चालत बिरियाँ, धर्म ध्यान उर आनो।
चारों अराधन अराधो, मोह तनों दुख आनो॥५२॥

है निशल्य तजो सब दुविधा, आतमराम सुध्यावो।
जग परगतिको करहु पयानो, परम-तत्व उर लावो॥
मोह-जालको काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो॥५३॥

दोहा

मृत्यु-महोत्सवपाठको, पढ़ो सुनो बुद्धिवान् ।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द्र शिवथान ।।५४।।
पंच उभय नव एक नभ, सम्वत् सो सुखदाय ।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कहो पाठ मन लाय ।।५५।।

३. (घ) समाधि-मरण-भावना

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ। (टेक)
देहान्तके समयमें, तुमको न भूल जाऊँ ।।
शत्रु अगर कोई हों, सन्तुष्ट उनको कर दूँ ।
समताका भाव धर कर, सबसे क्षमा कराऊँ ।।
त्यागूँ अहार-पानी, औषधि विचार अवसर ।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदयमें लाऊँ ।।
जागें नहीं कषायें, नहिं वेदना सतावे ।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यानको भगाऊँ ।।
आत्म-स्वरूप, वाचतु-आराधना विचारूँ ।
अरहंत-सिद्ध-साधू, रटना यहीं लगाऊँ ।।
धर्मात्मा निकट हो, चर्चा धरम सुनायें ।
वो सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ ।।
जीनेकी हो न बाँछा, मरने की हो न इच्छा ।
परिवार-मित्र जनसे, मैं मोहको हटाऊँ ।।
जागे जो भाग्य पहले, उनका न होवे सुमरण ।
मैं राज्य संपदा या, पद इन्द्रका न चाहूँ ।।
वृष रत्न तीन पालन, हो अन्तमें समाधी ।
बस प्रार्थना यही है, जीवन सफल बनाऊँ ।।

शुद्धिपत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पंक्ति
संन्यसा	संन्यास	२	२६
जिसमें	जिससे	६	१०
ओर (सम्पादकीय)	और	७	१०
समभियों	समिभियों	८	१६
दारुणष	दारुण	६	१३
सर्वत्यनेन	सर्वयत्नेन	१२	२७
क्षुधादिभिमहान्	क्षुधादिभिर्महान्	१५	११
त्रिशुद्धया	त्रिशुद्ध्या	१६	२४
सिद्धयर्थे	सिद्ध्यर्थे	२२	८
सवं (प्रस्ता०)	सर्वं	२४	२२
भोजनैयैर्न	मोजनैर्यैर्न	२४	६
गणयेन्महत्	गणयेनमहत्	२७	५
क्षुदुःखं	क्षुद्दुःखं	२८	७
व्यक्तिओं (प्रस्ता०)	व्यक्तियों	३१	१२
निर्यायक (प्रस्ता०)	नियापक	३७	१६, २१
स्वीकर	स्वीकार	४०	२६
विशुद्धया	विशुद्ध्या	४२	१७
स्वान्यन्तवादिदीपकः,	स्वान्यतत्वादिदीपकः	४२	१७
विशुद्धया	विशुद्ध्या	४३	५
चर्तुगति	चतुर्गति	४६	२५
प्राणेन्द्रिय-	घ्राणेन्द्रिय-	५३	३
अन्तकृत्केवली	अन्तःकृत्केवली	६८	१७
भय	भव	७०	५
सवं	सर्प	७१	६
तत्रकावतारिणः	तत्रैकावतारिणः	७७	२४